01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 1

प्रतिरोध का व्याकरण बनाम आज्ञापालक समाज

अभय कुमार दुबे
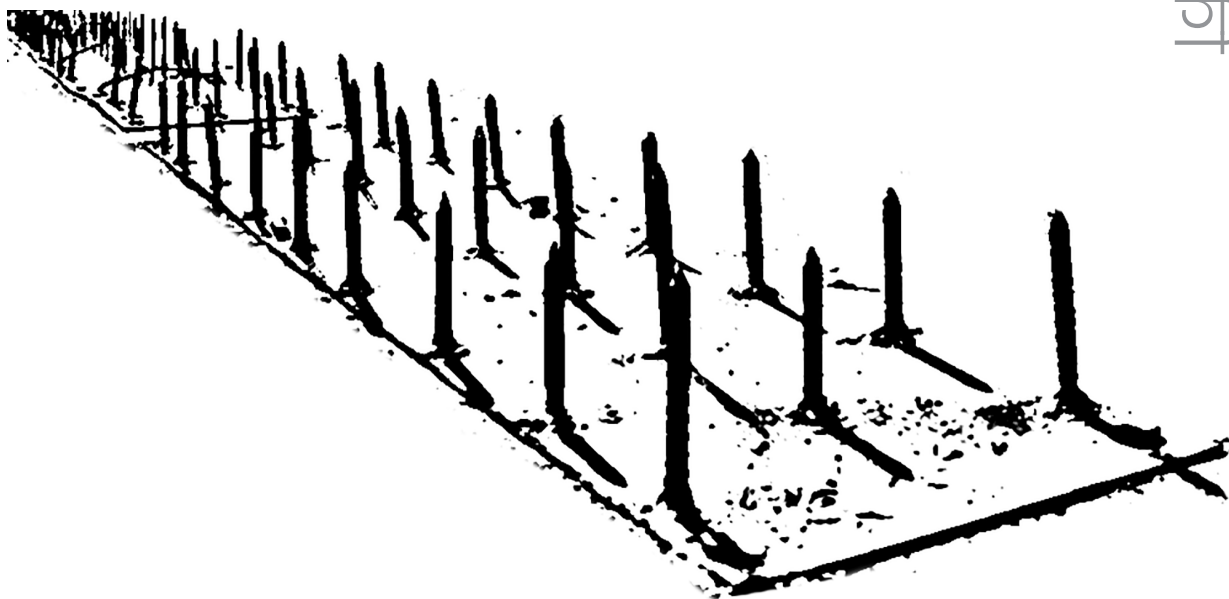
भारतीय लोकतंत्र की मौजूदा परिस्थिति का विश्लेषण करने वाला यह लेख मुख्य तौर पर तीन मान्यताओं पर आधारित है। पहली : नए सत्ता-समीकरण (निर्वाचित सरकार, सत्तारूढ़ दल, 'विचार के स्तर पर उसकी नियामक शक्तियाँ' और बड़ी कॉरपोरेट पूँजी) ने पिछले सात साल से एक आज्ञापालक समाज बनाने की परियोजना चला रखी है। इस समीकरण के तीन घटक वही हैं जो किसी भी सत्ता-समीकरण में प्राय: होते हैं। नया घटक है विचार के स्तर पर इसका नियमन करने वाली ताक़तें। दूसरी : इस प्रोजेक्ट का अल्पकालीन लक्ष्य मौजूदा सरकार को प्रतिरोध की आंदोलनकारी राजनीति से बचा कर दीर्घजीवी करना है। दूरगामी उद्देश्य के तहत यह प्रोजेक्ट बनती हुई लेकिन अक्सर अस्थिर साबित होने वाली हिंदू राजनीतिक एकता को अपेक्षाकृत स्थाई सामाजिक एकता का रूप देना चाहता है। इसके संचालकों को यक़ीन है कि सामाजिक विभेदों के टकरावजनित आयामों को आपसी सहयोग और संघर्षविहीनता की कथित 'भारतीय परंपरा' के तहत संसाधित किया जा सकता है। तीसरी, एक ग़ैर-पार्टी आंदोलन के तौर पर पिछले साल जून से चल रहे किसान आंदोलन (दिल्ली की ऐतिहासिक घेराबंदी के बहुत पहले से) ने धीरे-धीरे प्रतिरोध के एक व्याकरण की रचना की है।

यहाँ 'आज्ञापालक समाज' की अभिव्यक्ति के बारे में एक स्पष्टीकरण ज़रूरी है। इसे उदारतावादी हित आधारित पश्चिमी लोकतंत्र के विमर्श द्वारा थमाई गई शब्दावली में नहीं समझा

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 2

जा सकता। इस राजनीतिशास्त्रीय समझ के आधार पर पिछले दिनों कई रेटिंग एजेंसियों ने लोकतांत्रिक आज़ादियों के घटने के कारण भारत को 'पार्शियली फ़्री', 'चुनावी निरंकुशता' में पतित होने या 'फ़्लॉड डेमॉक्रैसी' रह जाने के आकलन-अवलोकन किए हैं। संसदीय विपक्ष इस सरकार के ऊपर अघोषित आपातकाल लगाने के आरोप भी लगाता रहता है।[1] अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले सूचकांकपरक आकलनों की सीमाओं के बावजूद इनमें छिपी सच्चाइयों को नकारा नहीं जा सकता।[2] समझा जाता है कि भारत सरकार पिछले साल नवंबर से ही अपने किसी 'स्वतंत्र थिंक टैंक' को प्रोत्साहित करके लोकतंत्रों की रेटिंग करने की क़वायद शुरू करवाने पर विचार कर रही है ताकि पश्चिमी एजेंसियों को माकूल जवाब दिया जा सके।[3] जो भी हो, 'आज्ञापालक समाज' बनाने का आग्रह तो कुछ और है। यह भारतीय समाज की बुनियादी प्रवृत्तियों को बदलने के लिए चलाया जा रहा सामाजिक-अंतरण का अभूतपूर्व प्रोजेक्ट है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसमें हिंदुत्ववादी सरकार को आसन्न अलोकप्रियता के फलितार्थों से बचाने का फ़ौरी लक्ष्य निहित है। लेकिन अगर सरकार बदलने की नौबत आ भी गई, तो यह प्रोजेक्ट धीमा ज़रूर हो जाएगा, पर इसका रुकना तब तक मुमकिन नहीं लगता जब तक सामाजिक शक्तियाँ ही इसे पटरी से न उतार दें।

'आज्ञापालक समाज' के प्रत्यय को समझने का एक परिप्रेक्ष्य समाज-मनोविज्ञान के प्रायोगिक दायरे में भी उपलब्ध है। साठ के दशक से ही पश्चिमी लोकतंत्रों में व्यक्ति और समाज की उन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का पता लगाने की कोशिश की जा रही है जो उन्हें 'हानिकारक आज्ञापालन' के लिए राज़ी कर सकती हैं। 1963 में स्टेनली मिलग्राम द्वारा येल विश्वविद्यालय में किया गया प्रयोग इस संबंध में बहुचर्चित है।[4] बाद में ऐसे ही कुछ और प्रयोग (जैसे, सोलोमन एश और फ़िलिप ज़िंबार्डो द्वारा) किए गए हैं।[5] इन प्रयोगों के ज़रिए उन मानसिकताओं को समझने की कोशिश की गई है जिनके तहत लोग हानिकारक आदेशों का पालन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मसलन, आदेश

---

[1] वाशिंगटन स्थित अंतरराष्ट्रीय संस्था फ्रीडम हाउस ने अपनी 2021 की रेटिंग में भारतीय लोकतंत्र को अपने मानकों के हिसाब से सौ में से 67 अंक दे कर 'आंशिक रूप से स्वतंत्र' क़रार दिया है. इसी तरह स्वीडन के वी-डेम (वेराइटीज़ ऑफ़ डेमॉक्रैसीज़) इंस्टीट्यूट ने अपनी लिबरल डेमॉक्रैसी इंडेक्स के मुताबिक़ भारत की रेटिंग गिराते हुए उसे 'इलेक्टोरल ऑटोक्रेसी' बताया है. ईआईयू (इकनॉमिक इंटेलिजेंस यूनिट) डेमॉक्रैसी इंडेक्स का आकलन है कि भारत में लोकतांत्रिक मानक काफ़ी दबाव में है और इस लिहाज़ से यह एक 'फ़्लॉड डेमॉक्रैसी' है. हमारे संसदीय विपक्ष की तरफ़ से और नागरिक समाज की शक्तियों की ओर से भी अक्सर मौजूदा सरकार पर अघोषित आपातकाल लगाने का आरोप लगाया जाता रहता है.

[2] जिन लोकतांत्रिक मानकों पर ये रेटिंग एजेंसियाँ अपने अध्ययन करती हैं, वे दरअसल पश्चिमी लोकतंत्रों के अनुभव पर आधारित हैं. ऐतिहासिक रूप से पश्चिमी लोकतंत्र नियम-क़ानूनबद्ध राजनीतिक स्थिरता, संवैधानिक विनियमन और सामाजिक अनुशासन के उस आग्रह के तहत एक 'क्वालिटी कंट्रोल' की संहिता पर चलते हैं. यह पूरा विमर्श अठारहवीं सदी के युरोपीय ज्ञानोदय की विचारधाराओं की देन है. भारतीय लोकतंत्र भी इसी थमाई गई बुद्धि पर आधारित है, लेकिन भारतीय समाज जब इन विचारधाराओं के साथ अन्योन्यक्रिया करता है तो नतीजे अनपेक्षित होते हैं. वैसे भी भारतीय मानस इस प्रकार की डेमॉक्रैसी रेटिंग से अप्रभावित रहता आया है. रेटिंग एजेंसियों के भारतीय संदर्भ के एक विश्लेषण के लिए देखें, सुहास पलशीकर (2021).

[3] देखें, अनीशा दत्ता (2021).

[4] देखें, स्टेनली मिलग्राम (1974).

[5] सोलोमन एश (2008).

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 3

मानने वाला यह भी सोच सकता है कि अगर उसके आज्ञापालन से किसी को पीड़ा पहुँच रही है तो इसकी नैतिक और मानवीय ज़िम्मेदारी उसकी न हो कर आदेश देने वाले की है। यानी, पालनकर्ता स्वयं को आदेशकर्ता के 'एजेंट' की तरह देख रहा है। न्यूरेमबर्ग ट्रायल में यहूदियों के हत्यारे आइख़मन की सफ़ाई कि वह तो सिर्फ़ आदेशों का पालन कर रहा था, इसी एजेंटिक मॉडल की मिसाल है। दूसरा मॉडल आदेशकर्ता के हुक्म के सामने निष्क्रिय समर्पण की मानसिकता को रेखांकित करता है। तीसरा मॉडल आज्ञापालन करने वाले में आदेशकर्ता और उसके मिशन के प्रति एक सक्रिय समर्थनकारी मानसिकता की शिनाख़्त करता है। इन व्याख्याओं में आदेशों की प्रकृति का विश्लेषण भी शामिल है। जैसे, अगर आदेश ज़ोर-ज़बरदस्ती वाले हैं (आदेश का पालन न करने पर दंड का भय) तो उनके पालन या प्रतिरोध की स्थितियाँ क्या बनती हैं। इसमें यह भी देखा जाता है कि अगर आदेश सुझाव की शक्ल में बिना किसी प्रत्यक्ष दबाव के दिया जाता है तो लोग उसका तत्परता से पालन करते हैं या नहीं।

लेख के चार हिस्से हैं। पहले में आज्ञापालक समाज बनाने की राजनीतिक प्रौद्योगिकी के विभिन्न पहलुओं, अभिव्यक्तियों, युक्तियों और वैचारिक पृष्ठभूमि की चर्चा है। इसमें यह भी दिखाया गया है कि भारतीय व्यक्ति और समाज के भीतर राजनीतिक आक़ाओं के आदेशों का अनुपालन न करने की प्रवृत्ति नैसर्गिक रूप से विद्यमान है। वे किसी करिश्माई नेता का समर्थन तो करते हैं, लेकिन 'राजनीतिक प्राधिकार' के सुपरिभाषित अर्थों में नहीं बल्कि उसे बड़े भाई, दीदी या पितातुल्य हस्ती के तौर पर अपनाने के बाद। यह अवज्ञाकारी रवैया पहले दिन से ही आधुनिक भारत के राजनीतिक संचालकों के लिए चिंता और परेशानी का विषय रहा है, फिर चाहे वे नेहरू और पटेल रहे हों, इंदिरा गांधी रही हों या नरेंद्र मोदी। लेकिन, 2014 के सत्ता-परिवर्तन के बाद 'न्यू इंडिया' अभियान के तहत इस 'समस्या' को दुरुस्त करने के लिए नियोजित प्रयास करने के कई संकेत दिखाई पड़ रहे हैं। संघ की स्थापित विचारधारा इसे निर्देशित कर रही है। दूसरे और ज़्यादा बड़े हिस्से में किसान आंदोलन के घटनात्मक, संगठनात्मक और गोलबंदीपरक विकास का सिलसिलेवार ब्योरा पेश किया गया है। तीसरे हिस्से में इस आंदोलन के कारण बन रहे प्रतिरोध के व्याकरण के प्रमुख बिंदुओं की शिनाख़्त की गई है। चौथा हिस्सा निष्कर्षात्मक है और सत्तर के दशक जैसे आसन्न संकट के संभावित फलितार्थों पर प्रकाश डालता है। साथ ही इस हिस्से में यह दलील भी दी गई है कि संघ परिवार अपनी वैचारिक योजना के दूसरे चरण में पहुँच गया है। पहला चरण अपना विमर्शी और सत्तामूलक दबदबा क़ायम करना था, और दूसरा चरण 'सहयोग, सामंजस्य और समरसता' के आग्रह पर आधारित आज्ञापालक समाज बनाने का है। लेख में कृषि क़ानूनों के आर्थिक और संवैधानिक पहलुओं पर न के बराबर ही चर्चा है। कहना न होगा कि यह एक बेहद ज़रूरी पहलू है, पर इससे संबंधित तथ्यों और तर्कों पर अलग से और पूरे विस्तार से विचार करना होगा।

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 4

I. आज्ञापालक समाज बनाने का राजनीतिक प्रोजेक्ट

भारत में राजनीतिक संस्कृति के अध्येताओं का मोटे तौर पर विचार है कि भारतीय समाज अपनी पारंपरिक संरचनाओं के कारण आधुनिक उदारपंथी लोकतंत्र की ज़रूरतों में ठीक से फ़िट नहीं बैठता। इस लिहाज़ से राजनीतिशास्त्र में समाज और लोकतंत्र के बीच कई तरह के वियोजनों (अनुपयुक्तताओं) की चर्चा होती रहती है। मसलन, हमारा समाज एकरूपता की माँग बिल्कुल पूरी नहीं करता। वह इतिहास-बोध की अनुपस्थिति के लिए जाना जाता है। पारंपरिक निष्ठाएँ बहुत हिचक के साथ अपना सेकुलरीकरण करती हैं। जो होता भी है, उसे आधे-अधूरे सेकुलरीकरण की संज्ञा ही दी जा सकती है। ये वियोजन बहुचर्चित और बहुविचारित हैं। लेकिन, एक ऐसा वियोजन भी बताया जाता है जिस पर अनुसंधानकर्ताओं ने बहुत कम ध्यान दिया है। यह है राजनीतिक शख़्सियत के तौर पर भारतवासियों में प्राधिकार (अथॉरिटी) के प्रति समर्पण की भावना का अभाव। परिवार के सदस्य के रूप में पिता या अन्य वरिष्ठों के आदेशों और हिदायतों को भारतीय व्यक्ति जितने स्वाभाविक ढंग से स्वीकार कर लेता है, वैसा आज्ञापालन राजनीति के दायरे में नहीं दिखाई पड़ता। रजनी कोठारी ने साठ के दशक के अंत में लिखी गई अपनी शाहकार कृति *पॉलिटिक्स इन इंडिया* के सातवें अध्याय में इस ख़ास तरह के लेकिन बेहद अहम वियोजन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया था। रजनीभाई इसका कारण भारत में बच्चे के लालन-पालन की एक विशेष तरह की प्रक्रिया में भी देखते हैं :

> अनुकरण करने के लिए उसके (भारतीय बच्चा) पास कोई एक नहीं, बल्कि कई तरह की छवियाँ और व्यक्तित्व होते हैं। ... इन परिस्थितियों में वह तक़रीबन निर्वैयक्तिक क़िस्म के समाजीकरण से गुज़रता है। सचेत रूप से सीखने की उम्र आने पर बच्चे को इस विश्वास के साथ पाला जाता है कि वह औपचारिक निर्देशों के पालन के बजाय स्वयं देख-समझ कर ज़्यादा सीखेगा। इससे बच्चे में एक तरफ़ तो स्वायत्तता की प्रवृत्ति बढ़ती है, पर दूसरी ओर वह सचेत निर्देशों और अनुशासन के तहत प्राधिकार के प्रतीकों के प्रति किसी विशेष अनुपालन की भावना से लैस नहीं हो पाता। ... न तो वह किसी केंद्र पर ज़ोर देता है, न ही दूसरों से ऐसी अपेक्षा करता है।'[6]

कोठारी ने अपनी रचनाओं में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की एक उपलब्धि को कई बार प्रमुखता से रेखांकित किया है। यह है 15 अगस्त, 1947 के बाद दिल्ली में एक राजनीतिक केंद्र की स्थापना। वे मानते हैं कि भारत के हज़ारों साल के इतिहास में ऐसा केंद्र पहली बार घटित हुआ था। चंद्रगुप्त, अशोक, अकबर और अंग्रेज़ों के साम्राज्य भी ऐसे विराट केंद्र की स्थापना नहीं कर पाए थे, जो आज़ादी के बाद जवाहर लाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और भीमराव आंबेडकर जैसे नेताओं के मार्गदर्शन और संचालन में उनके आपसी मतभेदों के बावजूद स्थापित हुआ। दिलचस्पी की बात यह है कि अपने लोकतांत्रिक मिज़ाज के लिए बहुप्रशंसित ये नेतागण सत्ता सँभालते ही भारतीय समाज के विभिन्न तबक़ों और उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा प्रदर्शित व्यवस्था के प्रति अवज्ञा, अनुशासनहीनता और आंदोलन करने के रवैये को आलोचनाभाव से देखने लगे थे। इस विरोधाभास का परिणाम यह निकला कि जिन औपनिवेशिक क़ानूनों के तहत कॉन्ग्रेस के नेताओं और अन्य

---

[6] देखें, अभय कुमार दुबे (सं.)(2003) : 160-161.

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 5

स्वतंत्रता सेनानियों के ख़िलाफ़ दमनचक्र चलाया जाता था, उन्हीं का इस्तेमाल करके आज़ादी के तुरंत बाद (पहले वर्ष से ही) प्रतिरोध करने वाली ताक़तों के ख़िलाफ़ कार्रवाई शुरू कर दी गई। इससे एक पैटर्न उभरा, जो आज तक जारी है।

शालिनी शर्मा ने 'ये आज़ादी झूठी है! : शेपिंग ऑफ़ द अपोज़ीशन इन द फ़र्स्ट ईयर ऑफ़ द कॉन्ग्रेस राज' शीर्षक से किए गए अनुसंधान में तथ्यात्मक दृष्टि से इस पैटर्न का शुरुआती ख़ाका पेश किया है।[7] इस शोध में निजी पत्राचार, सार्वजनिक वक्तव्यों और अन्य दस्तावेज़ों की मदद से दिखाया गया है कि चाहे कम्युनिस्ट हों, समाजवादी हों, हिंदुत्ववादी संगठन हों या मुस्लिम लीग का बचा-खुचा नेतृत्व हो — कॉन्ग्रेस ने सत्ता में आते ही सभी की ख़ुफ़िया निगरानी शुरू करवा दी। वल्लभभाई पटेल का विचार था कि कॉन्ग्रेस के नेतृत्व में चलने वाली राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया या नए भारत के निर्माण को समर्थन न देने वाले गद्दार से कम नहीं हैं। चूँकि आज़ादी के आंदोलन का नेतृत्व कॉन्ग्रेस ने किया है, इसलिए उसका विरोध करने वाले देश की आज़ादी को अस्थिर करने वाले समझे जाने चाहिए। इसी तर्ज़ पर आज़ादी के दस दिन पहले गोविंद वल्लभ पंत का कहना था कि ऐसे लोगों को राष्ट्रद्रोही घोषित करके उनके मुँह पर कालिख पोत देनी चाहिए। नेहरू, पटेल और अन्य कॉन्ग्रेसी नेताओं द्वारा कम्युनिस्टों और अन्य वामपंथियों की निष्ठाओं को देश के बाहर केंद्रित बताना एक आम बात थी। मज़दूर आंदोलन के सवाल पर कॉन्ग्रेस का शीर्ष नेतृत्व उद्योगपतियों और श्रमिकों के बीच किसी भी तरह के संघर्ष का खुला विरोधी था। पटेल द्वारा हड़ताली मज़दूरों को 'टेररिस्ट' क़रार देने, और नेहरू द्वारा आंदोलनकारी छात्रों और मज़दूरों में अनुशासन की कमी के प्रति चिंता जताने जैसे वक्तव्य आज़ादी के पहली साल के राजनीतिक रोज़नामचे में आसानी से देखे जा सकते हैं। इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट ऐक्ट और निवारक नज़रबंदी क़ानून इसी अवधि की देन है जिनका मुख्य मक़सद जनांदोलनों के विरोध में सरकार की दमनकारी बाँह को और शक्ति देना था। कुल मिला कर कॉन्ग्रेस के नेताओं का आग्रह था कि धरना, प्रदर्शन और हड़ताल अंग्रेज़ी राज में ठीक थे। अब अपनी सरकार आ गई है, इसलिए इन उपायों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। इतिहासकार दीपेश चक्रवर्ती ने अपनी एक रचना में दिखाया है कि स्वतंत्रता के बाद नए सत्ताधारियों ने अचानक किए जाने वाले प्रदर्शनों, सत्याग्रहों और हड़तालों को सीमित करने की भरपूर कोशिश की।[8] कॉन्ग्रेसी वक्तव्यों में 'सत्याग्रह' के आंदोलनकारी औज़ार की स्वातंत्र्योत्तर वैधता पर विशेष तौर से सवालिया निशान लगता हुआ दिखता था।

लेकिन, क्या 'एक दल-महा प्रबल' समझी जाने वाली कॉन्ग्रेस की नुमाइंदगी करने वाले हुक्मरान प्रतिरोध की राजनीति को अपनी योजना के मुताबिक़ नियंत्रित और विनियमित कर पाए? भारतीय राजनीतिक संस्कृति का अध्ययन करने वाले राजनीतिक मनोविज्ञान के महारथी आशिस नंदी का अवलोकन है कि आज़ादी के बाद जैसे-जैसे राष्ट्रवाद की विचारधारा के तहत राजनीतिक केंद्र मज़बूत होता गया, वैसे-वैसे उसके प्रति असंतोष और अवज्ञा में भी बढ़ोतरी होती चली गई। सत्तर के दशक की राजनीति की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि चुनावों को ज़्यादा-से-ज़्यादा लुभावने नारों पर निर्भर करना और समाचार-माध्यमों में प्रायोजित ख़बरों के ज़रिए सरकारों और

[7] शालिनी शर्मा (2013) : 1358-1388.

[8] दीपेश चक्रवर्ती (2007) : 35-57.

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 6

व्यक्तिगत प्रतिष्ठानों को उठाने-गिराने की राजनीतिक प्रौद्योगिकी दरअसल इंदिरा गांधी की कारिस्तानी थी। प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने ही 'चालाक और शहरी नौकरशाहों तथा अपने सलाहकारों की मदद से इस संस्कृति की दागबेल डाली। उनके सलाहकार मंडल की ख़ूबी यह थी कि वे मीडिया को पटा कर और उसके ज़रिए मध्यवर्ग को अपनी ओर मोड़ने की कला में सिद्धहस्त थे। समाचार-माध्यमों का ऐसे इस्तेमाल का यह पहला उदाहरण था। भारतीय राजनीति में पहली बार 'प्रतिबद्ध नौकरशाहों', महत्त्वाकांक्षी अकादमीशियनों, पत्रकारों और राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि से वंचित दरबारी राजनीतिकों का गठजोड़ उभरा था।'[9]

नंदी के अनुसार इस तरह की राजनीति के ज़रिए इंदिरा गांधी एक निहायत ताक़तवर राजनेता के रूप में उभरीं। विपक्ष उनकी आभा के आगे मंद लगने लगा। पाकिस्तान के पूर्वी हिस्से को पश्चिमी हिस्से से काट कर आज़ाद देश बनाने वाले युद्ध में विजय और पोखरण के एटमी परीक्षण ने उनकी छवि में चार चाँद लगा दिए। वोट उनके नाम पर मिलने लगे। लेकिन, तभी भारतीय राजनीति में एक ऐसा मोड़ आया जिसने एक बार फिर दिखा दिया कि ऐसे प्रबल करिश्माई नेता के विरोध में भी सफल अवज्ञाकारी गोलबंदी हो सकती है। नंदी के ही शब्दों में, 'पत्रकारों और उनकी गतिविधियों को प्रायोजित करने वालों ने न जाने कितनी आकांक्षाएँ भड़का दीं। ... ज़बरदस्त प्रचारात्मक और वोटखींचू सफलताओं के बावजूद जनता सत्तारूढ़ दल से निराश हो गई। अतृप्त आकांक्षाओं ने उतनी ही बड़ी कुंठाओं को जन्म दिया। लोगों की निगाह में न केवल पूरी शासन-प्रणाली संदिग्ध हो गई, बल्कि सत्ता के गलियारों में फैले भ्रष्टाचार ने उन्हें क्रोधित कर दिया। 1973-74 में सरकार की वैधता को चुनौती देने वाले कई लोकप्रिय आंदोलन फूट पड़े। 1975 में आपातकाल घोषित करके इंदिरा गांधी ने साबित कर दिया कि वे राजनीति में टिके रहने की लड़ाई हार चुकी हैं।'[10]

कहना न होगा कि 2014 में आई नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली सरकार भारतीय राजनीतिक संस्कृति में गहराई से उतर चुकी अवज्ञा की संस्कृति से अच्छी तरह वाक़िफ़ थी। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की प्रतिष्ठा से संपन्न होने के बावजूद नेहरू के नेतृत्व वाली भारत की पहली सरकार को भी इस अवज्ञा का सामना करना पड़ा था। सत्ता के केंद्रीकरण और मीडिया के ज़रिए शक्तिशाली हुई इंदिरा गांधी की दुर्गति भी अवज्ञा के इसी स्वर के कारण हुई थी। नेहरू से भी ज़्यादा बड़ा जनादेश प्राप्त करने वाले राजीव गांधी का भी कुछ ऐसा ही हश्र हुआ था। इस सबसे ऊपर मोदी सरकार यह कैसे भुला सकती थी कि स्वयं उसका वजूद दो बड़े अवज्ञाकारी आंदोलनों का परिणाम था। इनमें से एक था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा पंद्रह साल तक चलाया गया रामजन्मभूमि आंदोलन जिसकी सफलता चुनी हुई सरकारों से ले कर सुप्रीम कोर्ट के आदेशों तक की परवाह न करने पर आधारित थी। यह आंदोलन देश भर में कई बार सांप्रदायिक हिंसा को बढ़ावा देता हुआ भी दिखा। भाजपा के संगठक के रूप में स्वयं मोदी भी इस आंदोलन में भागीदार थे।

दूसरी अवज्ञाकारी जन-गोलबंदी थी 2011 से 2013 के बीच में चला भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन जिसके कारण कॉन्ग्रेस के नेतृत्व वाली तत्कालीन सरकार की साख तार-तार हो गई थी।

---

[9] आशिस नंदी (2002) : 171-197.

[10] आशिस नंदी (2002), पूर्वोद्धृत.
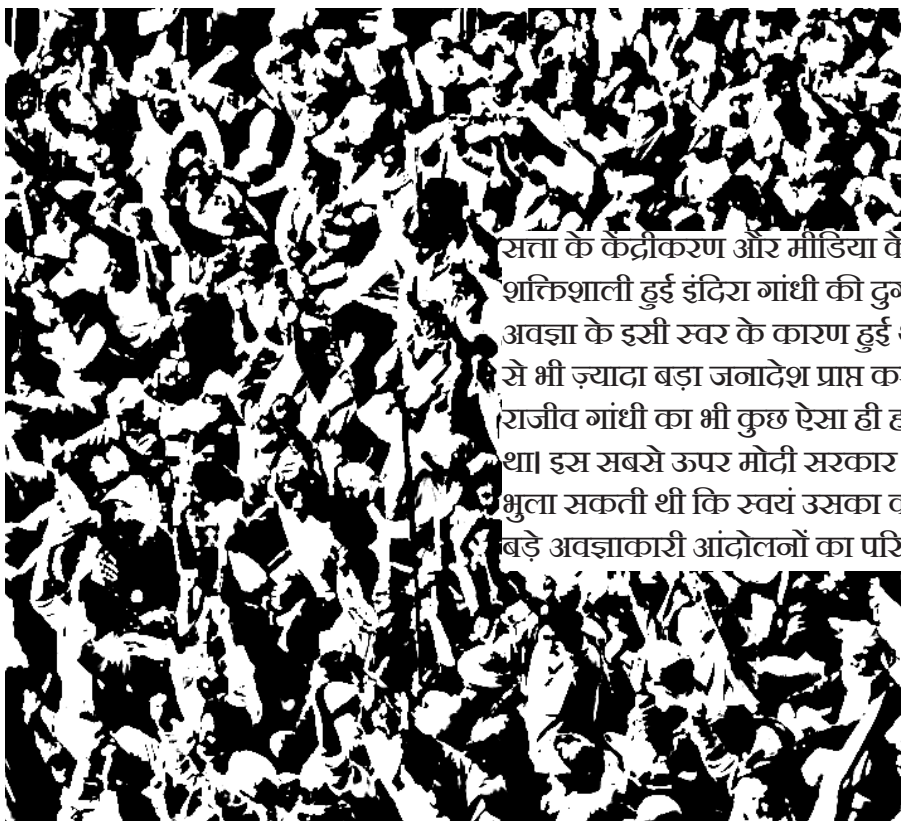
01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 7

सत्ता के केंद्रीकरण और मीडिया के ज़रिए शक्तिशाली हुई इंदिरा गांधी की दुर्गति भी अवज्ञा के इसी स्वर के कारण हुई थी। नेहरू से भी ज़्यादा बड़ा जनादेश प्राप्त करने वाले राजीव गांधी का भी कुछ ऐसा ही हश्र हुआ था। इस सबसे ऊपर मोदी सरकार यह कैसे भुला सकती थी कि स्वयं उसका वजूद दो बड़े अवज्ञाकारी आंदोलनों का परिणाम था।

इस आंदोलन में शुरुआत से ही संघ परिवार विवेकानंद फ़ाउंडेशन के ज़रिए, भाजपा के शहरी समर्थकों द्वारा रामलीला मैदान और जंतरमंतर के धरनों में भीड़ बढ़ाने के ज़रिए, या मुहल्लों-बस्तियों में मोमबत्ती-प्रदर्शन करने के ज़रिए भागीदारी कर रहा था। इस आवेगपूर्ण राजनीति के कारण बने कॉन्ग्रेस विरोधी माहौल का सर्वाधिक लाभ 2013 के बाद नरेंद्र मोदी की चुनावी मुहिम को मिला। मोदी और उनके रणनीतिकारों ने अवज्ञाकारी राजनीति के इन प्रकरणों से पूरा लाभ उठा चुकने के बाद तय किया कि वे इस तरह के राजनीतिक प्रतिरोध से हो सकने वाले नुक़सान से बचने की पूरी पेशबंदी करेंगे। इसलिए सत्ता में आते ही सरकार ने शुरुआत से ही चार बातें सुनिश्चित कीं।

पहली, सत्ता में पहला क़दम रखते ही प्रधानमंत्री ने संविधान को 'पवित्र ग्रंथ' घोषित कर दिया। इस घोषणा में एक विडबंना निहित थी। प्रधानमंत्री की राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा एक ऐसी संस्कृति में हुई थी जो शुरू से ही संविधान को स्वीकार करने से न केवल कतराती थी, बल्कि आलोचना करते हुए बुलंद आवाज़ में उसे ख़ारिज करने की हद तक चली जाती थी। मोदी से पहले भाजपा के पहले प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने तो संविधान को बदलने के लिए उसकी समीक्षा करने हेतु एक आयोग तक बना डाला था। अपने राजनीतिक इतिहास के इन पहलुओं को ठंडे दिमाग़ से नज़रअंदाज़ करने के पीछे एक कुशल रणनीति थी। चूँकि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की विरासत से वंचित था, इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद के इस प्रमुख आयाम से वह

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 8

अपना ताल्लुक़ केवल परले दर्जे की संविधानपरस्ती के ज़रिए ही क़ायम कर सकता था। इसी कारण से मोदी सरकार ने संविधान के साथ अपने संबंधों को उत्तरोत्तर प्रगाढ़ करने का व्यवस्थित उद्यम किया। अक्टूबर, 2015 में केंद्र सरकार ने 26 नवंबर को संविधान दिवस मनाने का फ़ैसला किया। 1949 के इसी दिन संविधान सभा ने संविधान के अंतिम मसविदे पर अपनी मुहर लगाई थी। 2018 में भाजपा के विचारधारात्मक सरपरस्त और संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि संविधान को बदलने में संघ की कोई दिलचस्पी नहीं है, 'संविधान के अनुशासन का पालन करना सबका कर्तव्य है। संघ इसको पहले से मानता है। अभी तक जो मैंने बोला, उसमें संविधान के विपरीत कुछ नहीं है; संविधान में जो कुछ है, उसी को मैंने अपने शब्दों में बोला है। हम स्वतंत्र भारत के सब प्रतीकों का और संविधान की भावना का पूर्ण सम्मान करके चलते हैं। हमारा संविधान भी ऐसा प्रतीक है। शतकों के बाद हमें फिर से अपना जीवन अपने तंत्र से खड़ा करने का मौक़ा मिला। उसके बाद हमारे देश के मूर्धन्य लोगों ने, विचारवान लोगों ने एकत्रित होकर विचार करके संविधान का निर्माण किया है, वह ऐसे ही नहीं बना। जिन विचारवान लोगों ने इस संविधान का निर्माण किया, उन्होंने उसके एक-एक शब्द पर बहुत मंथन किया और सर्वसहमति उत्पन्न करने के पूर्ण प्रयास के बाद बनी सहमति के बाद यह संविधान बना।'[11]

दूसरी, सार्वजनिक जीवन के विमर्श को मीडिया के ज़रिए नियंत्रित करते हुए 'प्रतिरोध की राजनीति' के सभी रूपों की वैधता पर सवालिया निशान लगाने की शुरुआत कर दी गई। इसके लिए ज़रूरी था कि सरकारी पार्टी स्वयं अपने आंदोलनकारी इतिहास को विस्मृत करने का प्रयास करती। ऐसा ही किया गया। न केवल रामजन्मभूमि आंदोलन को फिर से जिलाने की किसी भी कोशिश को प्रधानमंत्री व्यक्तिगत रूप से हतोत्साहित करते नज़र आए, बल्कि उन्होंने संघ परिवार के ऐसे अन्य संगठनों (भारतीय किसान संगठन, भारतीय मज़दूर संघ, स्वदेशी जागरण मंच वगैरह) की गतिविधियों पर एक भीतरी रोक लगवा दी जो अटल बिहारी सरकार के ज़माने में सरकारी नीतियों की आलोचना और सांकेतिक क़िस्म के आंदोलनकारी कार्यक्रमों के लिए जाने जाते थे। अपने भीतर से उठ सकने वाले विरोध को ठंडा करवाने के बाद सरकार और उसके समर्थक उत्साह से संसदीय विपक्ष की राजनीतिक पहलक़दमियों से ले कर नागरिक समाज की ग़ैर-पार्टी शक्तियों के कार्यक्रमों को देशहित के लिए प्रतिकूल बताने में जुट गए। एनआईटीआई आयोग के सीईओ अमिताभ कांत द्वारा भारत में कुछ ज़्यादा ही लोकतंत्र होने का अफ़सोस व्यक्त करने वाला ताज़ा वक्तव्य इसका बड़ा सबूत है। मीडिया-नियंत्रण की एक अनौपचारिक सरकारी योजना बनाई गई जिसके 97 पृष्ठीय दस्तावेज़ के पीछे सरकार के नौ वरिष्ठ मंत्रियों द्वारा 14 जून से 9 जुलाई, 2021 तक हुई छह बैठकों में हुआ विचार-विमर्श था।[12]

तीसरी, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का सरकारीकरण करने की मुहिम चलाना। यहाँ सरकारीकरण का मतलब था हर मुक़ाम पर सरकार और उसकी नीतियों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति को ही श्रेयस्कर बताना। साथ ही आग्रह भी करना कि इनकी खुलकर की गई प्रशंसा

[11] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण (2018) : 56-57.

[12] देखें, कृष्ण कौशिक (2021).

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 9

राष्ट्रभक्ति का पर्याय है, और इनकी आलोचना करने वाले विमर्श को किसी न किसी प्रकार राष्ट्रहित से इतर की श्रेणी में देखा जाना चाहिए। सरकार और सरकारी पार्टी के प्रवक्ता दिन-रात मीडिया मंचों पर तर्क देते नज़र आए कि सरकार संविधान के प्रावधानों के मुताबिक़ बहुमत की चुनी हुई सरकार है। उसका प्रत्येक क़दम संविधान के मुताबिक़ है। विधिसम्मत निर्वाचित सरकार के ख़िलाफ़ किसी भी प्रकार का आंदोलन चलाना अराजकता फैलाने के समकक्ष है। वाशिंगटन डीसी में कैपिटल हिल पर डोनाल्ड ट्रंप के समर्थकों की चढ़ाई पर प्रतिक्रिया देते हुए स्वयं नरेंद्र मोदी ने कहा है कि किसी भी विधिसम्मत सरकार के ख़िलाफ़ ऐसा आंदोलन नहीं चलाया जाना चाहिए। इस सिलसिले में एक नए क़िस्म की दलील भी विकसित की गई है : 'प्रधानमंत्री केवल भाजपा के प्रधानमंत्री नहीं हैं, बल्कि विपक्ष और सरकार के अन्य आलोचकों के भी प्रधानमंत्री हैं।' इसी के साथ एक दलील यह भी गढ़ी गई है कि सरकार के किसी भी क़दम की देश के बाहर से की गई आलोचना 'अंदरूनी मामलों में दखलंदाज़ी' समझी जानी चाहिए। इसे रोकने के लिए किसी भी भारतीय संस्था द्वारा आयोजित विदेशी विद्वान या अन्य हस्ती के भाषण पर सरकार निगरानी की व्यवस्था करना भी उचित मानती है। अभी तक वह इस तरह की निगरानी में कामयाब नहीं हुई है, लेकिन प्रयास जारी है।

चौथी, सरकार ने धीरे-धीरे प्रतिरोध की राजनीति की विभिन्न अभिव्यक्तियों को दबाने के लिए एक बहुआयामी क़ानूनी ढाँचे के विकास पर काम करना शुरू किया। इस मामले में सरसंघचालक मोहन भागवत का निर्देश एकदम साफ़ है। आंतरिक सुरक्षा की चुनौती से संबंधित प्रश्न पूछे जाने पर उनका कहना था कि सरकार की कमियों का फ़ायदा उठा कर सुरक्षा के लिए मुश्किलें पैदा करने वालों का 'बंदोबस्त कड़ाई से होना चाहिए'। अगर 'और सख़्त क़ानूनों की आवश्यकता है तो बनने चाहिए'। यहाँ उल्लेखनीय है कि सरसंघचालक कड़े क़ानूनों की ज़रूरत पर बल देते हुए यह भी रेखांकित करते हैं कि शासन-प्रशासन अपना है– यह विश्वास लोगों के मन में पैदा करना होगा। 'क़ानून तोड़ने वाले, देशद्रोह की भाषा बोलने वालों की तरफ़ से अपने ही समाज से उनका समर्थन करने वाले खड़े न हों, यह भी आवश्यकता है। तो समाज का मन ऐसा बने कि ऐसी बातें करने वाले अलग-थलग हो जाएँ। ये दोनों बात जब होती हैं (कड़ा क़ानून और समाज का समर्थन न मिलना) तब फिर आंतरिक सुरक्षा अत्यंत मज़बूत रहती है।'[13]

ध्यान रहे कि क़ानून के प्रावधानों का इस्तेमाल करके वैचारिक विरोधियों को कोने में धकेलने का प्रयोग हिंदुत्ववादी राजनीति 2014 के पहले से ही कर रही थी। कॉन्ग्रेस के दस साला शासन के दौरान कला और संस्कृति के क्षेत्र में हो या किसी अन्य क्षेत्र में, हिंदू भावनाओं को आहत करने के नाम पर कलाकारों, एक्टिविस्टों और विद्वानों के ख़िलाफ़ देश के अलग-अलग इलाक़ों की अदालतों में एक साथ मुक़दमे दायर किए जाने लगे थे। इसी के समांतर बजरंग दलियों से चित्र प्रदर्शनियों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर हमला करने की घटनाएँ भी आयोजित की जाती रहती थीं। ऐसा करने वालों से जब पूछा जाता था कि वे इस तरह से आवाज़ दबाने का काम कर रहे हैं, तो उनका जवाब होता था कि अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं की रक्षा के लिए क़ानून

[13] मोहन भागवत का वक्तव्य (2018), पूर्वोद्धृत : 93-94.

की मदद लेना उनका अधिकार है। कुल मिला कर उनका मक़सद यह था कि विचारधारात्मक विरोधी सहम जाएँ।

सत्ता में आने के बाद हिंदुत्ववादियों ने इस प्रौद्योगिकी का और विकास किया। मुक़दमे दायर करने के अलावा वैचारिक विरोधियों को तंग करने के लिए पुलिस में देशद्रोह के आरोप के तहत रपट दर्ज कराने का सिलसिला भी शुरू कर दिया गया है। चूँकि ज़्यादातर जगहों पर भाजपा ही सत्ता में है, इसलिए पुलिस वाले तत्परता से रपटें लिख भी रहे हैं। महज़ एक ट्वीट पर देशद्रोह का इलज़ाम लग सकता है। भाजपा की सरकारों ने किसी भी तरह के 'जुझारू' आंदोलन को हतोत्साहित करने की एक तरक़ीबन और निकाली है। यह है धरने-प्रदर्शन के दौरान सरकारी सम्पत्ति को होने वाले का मुआवज़ा आंदोलनकारियों से वसूलना। इसके लिए ये सरकारें क़ानून बनाने की हद तक जाने के लिए तैयार हैं। इसके अतिरिक्त जिन पहलुओं पर सीधे-सीधे क़ानून बनाया जा सकता है, या संशोधन के ज़रिए स्थिति बदली जा सकती है, वहाँ भाजपा की सरकारें विधायी रास्ते का सहारा लेती हैं (जैसे, तीन तलाक़, कश्मीर से धारा 370 हटाना और लव जिहाद के ख़िलाफ़ क़ानून बनाना)। जहाँ ऐसा तुरंत नहीं हो सकता, वहाँ हिंदुत्व की क़ानूनी टीमें अदालतों में याचिका डाल कर 'लिटमस टेस्ट' करती हैं (जैसे, काशी और मथुरा से मस्जिद और ईदगाह हटाने के हिंदू-अधिकार के लिए हाल ही में दायर की गई याचिका)। सोशल मीडिया और ओटीटी प्लेटफ़ॉर्म पर नियंत्रण के लिए सरकार की जारी कोशिशें इसका एक अन्य प्रमाण हैं। इसी तरह अल्पसंख्यक अधिकारों को लेकर की जाने वाली प्रतिरोध की राजनीति को पटरी से उतारने की क़ानूनी कोशिश भी की जा रही है। इसके तहत उन नौ राज्यों के बारे में याचिका दायर की गई जहाँ हिंदू संख्या की दृष्टि से अल्पमत में हैं। याचिका का दावा है कि यहाँ हिंदुओं को धार्मिक अल्पसंख्यकों जैसे अधिकार मिलने चाहिए।

शुरुआती दौर में सरकार की इस चतुष्कोणीय रणनीति और उसके निहितार्थों पर किसी की निगाह नहीं गई। सरकार की आलोचना 'सेकुलर बनाम सांप्रदायिक' जैसे ढर्रे के विमर्श के तहत ही की जाती रही। इसका मोदी सरकार पर कोई असर नहीं पड़ सकता था, क्योंकि भाजपा समेत संघ परिवार के सभी संगठन अल्पसंख्यक विरोधी होने के लांछन के साथ जीना सीख चुके थे। दरअसल, मोदी और संघ के प्रोजेक्ट के अल्पसंख्यक विरोधी आयामों की शिनाख़्त करना आसान था। इसके लिए एक दुहैरी रणनीति का लगातार प्रयोग किया जा रहा था : बड़े-बड़े दंगों से बचते हुए स्थानीय स्तर पर गो रक्षा, घर-वापसी, लव जिहाद जैसे वितंडों के ज़रिए सांप्रदायिक तनाव को लगातार खदबदाते रखना; और अल्पसंख्यकों के मतदान की राजनीतिक प्रभावकारिता शून्य कर देने के लिए बड़े-बड़े सामाजिक गठजोड़ बनाने के ज़रिए हिंदू राजनीतिक एकता का दायरा बढ़ाते चले जाना। संसदीय विपक्ष की रणनीतिविहीनता, उसके नेताओं की गिरी हुई साख और परस्पर एकता के अभाव के कारण भाजपा को इन दुहैरे लक्ष्यों में असाधारण सफलता मिलती चली गई। लेकिन, मोदी सरकार के आलोचक जो देखने से चूक रहे थे, वह कुछ और था। दरअसल, वह अल्पसंख्यक विरोध से परे जाते हुए पूरे भारतीय समाज (जिसमें ग़ैर-मुसलमानों की संख्या अस्सी फ़ीसदी से ज़्यादा है) को आज्ञापालक बनाने की महत्त्वाकांक्षा थी। मेरे विचार से इसके पीछे एक समझ यह थी कि केवल एक आज्ञापालक समाज ही हिंदुत्ववादियों की सरकार को लोकप्रियता और अलोकप्रियता के उस

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 11

चक्रीय प्रारब्ध से बचा सकता है जिसका शिकार इंदिरा गांधी और राजीव गांधी की निर्वाचित और स्थिर सरकारें हुई थीं। इसके पीछे दूसरी समझ यह है कि चुनावी सफलताओं के लिए गढ़ी गई हिंदू एकता उस समय तक अल्पकालीन और भंगुर रहेगी जब तक उसकी संरचना राजनीति के फ़ौरी उद्देश्यों से परे जाते हुए सामाजिक न बन जाए।

क़ानून के प्रावधानों का इस्तेमाल करके वैचारिक विरोधियों को कोने में धकेलने का प्रयोग हिंदुत्ववादी राजनीति 2014 के पहले से ही कर रही थी। कॉन्ग्रेस के दस साला शासन के दौरान कला और संस्कृति के क्षेत्र में हो या किसी अन्य क्षेत्र में, हिंदू भावनाओं को आहत करने के नाम पर कलाकारों, एक्टिविस्टों और विद्वानों के ख़िलाफ़ देश के अलग-अलग इलाक़ों की अदालतों में एक साथ मुक़दमे दायर किए जाने लगे थे।

हिलाल अहमद ने हाल ही में की गई अपनी एक प्रस्तुति में मोदी सरकार की 'न्यू इंडिया' मुहिम की तरफ़ हमारा ध्यान खींचा है।[14] संघ, भाजपा और मोदी की वेबसाइटों से सामग्री चुन कर विश्लेषण करते हुए वे जो निष्कर्ष निकालते हैं उसे मौजूदा सत्ताधारियों द्वारा चलाई जा रही 'आज्ञापालक समाज' बनाने की दीर्घकालीन परियोजना के रूप में भी देखा जा सकता है। भाजपा ने 2018 में 'न्यू इंडिया' को अपने राजनीतिक सिद्धांत के रूप में मान्यता दी। हिलाल के मुताबिक़ इसके तहत प्रत्येक भारतवासी से एक आठ सूत्रीय शपथ लेने की अपेक्षा की जाती है। ये शपथ कुछ इस तरह से डिज़ाइन की गई हैं कि बेरोज़गारी के मुद्दे पर, कश्मीर से धारा 370 हटाने के मुद्दे पर, सीएए से जुड़े नागरिकता संबंधी विवादों के प्रश्न पर आंदोलनकारी गतिविधियों की गुंज़ाइश ही ख़त्म हो जाती है। भाजपा के दस्तावेज़ 'न्यू इंडिया' को एक ऐसे युग की तरह परिभाषित करते हैं जो 'उत्तरदायी लोगों और उत्तरदायी शासन' का युग होगा। लोगों का काम होगा आंदोलन जैसे 'अनुत्तरदायी प्रयोगों' से बाज़ आना, और सरकार का काम होगा कश्मीर और अयोध्या जैसी 'ऐतिहासिक ग़लतियों' को दुरुस्त करने का उत्तरदायित्व पूरा करते हुए नवाचार, कठोर परिश्रम, सृजनात्मकता के ज़रिए एक शांतिपूर्ण, एकताबद्ध और भाईचारे वाला ऐसा देश बनाना जो भ्रष्टाचार, आतंकवाद, काले धन और अस्वच्छता से मुक्त हो।

सोचने की बात यह है कि क्या 'न्यू इंडिया' का यह विमर्श मोदी सरकार के आविष्कार के रूप में कोई नया सूत्रीकरण है, या संघ परिवार की स्थापित विचारधारा के तहत इसके बीज बहुत पहले ही डाल दिए गए थे? यह सवाल उस समय मन में उठता है जब संघ के वरिष्ठ पदाधिकारी डॉ. कृष्ण गोपाल द्वारा 2017 में दिया गया एक व्याख्यान नज़र में आता है। इसका शीर्षक है 'भारतीय परंपरा में संघर्ष विहीन सुधार'।[15] शीर्षक से ज़ाहिर है कि यह व्याख्यान समाज-परिवर्तन के टकरावविहीन

[14] जनवरी, 2021 में हिलाल अहमद ने विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के सालाना फ़ैकल्टी सेमिनार में 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन न्यू इंडिया' शीर्षक से एक प्रस्तुति की. इसके तीसरे हिस्से 'न्यू इंडिया', 'हिंदुत्व कांस्टीट्यूशनलिज़म ऐंड द मुस्लिम्ज़' में इन पहलुओं पर प्रकाश डाला गया था.

[15] देखें, डॉ. कृष्ण गोपाल (2017).

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 12

रास्ते की वक़ालत करता है। इससे हिंदुत्ववादियों को यह कहने का मौक़ा मिलने की गुंज़ाइश बनती है कि वे परिवर्तनहीन जड़ समाज के पक्ष में नहीं हैं, पर जाति तोड़ो या परंपराओं को ख़ारिज करने जैसे विमर्शों और कार्यक्रमों को सामाजिक बदलाव का उचित तरीक़ा नहीं मानते। यह व्याख्यान भौगोलिक और पर्यावरणीय नियतिवादी तर्क का इस्तेमाल करता हुआ कहता है कि भारत के विशिष्ट भूगोल और जलवायु में विकसित होने के कारण भारतीय परंपरा संघर्षविहीन सुधार की है, जबकि पश्चिम की जलवायु में विकसित हुई परंपरा उसके अपने भूगोल और पर्यावरण की विशिष्टता के कारण विद्रोह, टकराव, हिंसा और क्रांतियों की है।[16] संघ परिवार के वैचारिक इतिहास पर पहली नज़र डालते दिखाई पड़ जाता है कि इस तरह की दावेदारियों की वैचारिक पृष्ठभूमि नई न हो कर पुरानी है। साठ के दशक में स्वयंसेवकों के सामने दिए गए दीनदयाल उपाध्याय के व्याख्यानों पर नज़र डालने से यह प्रमाणित हो सकता है।[17] इसी के साथ दत्तोपंत ठेंगड़ी द्वारा 'सामाजिक न्याय प्रदत्त समता' के बजाय 'परंपरा प्रदत्त समरसता' के सैद्धांतिक प्रतिपादन में भी यह सबूत मिल सकता है।[18] यह जानना दिलचस्प होगा कि दत्तोपंत ठेंगड़ी की इस पूरी रचना में डॉ. आंबेडकर के विचारों को अपने दृष्टिकोण से पेश किया गया है। इसी तरह से चाहे मोहन भागवत का वक्तव्य हो, या डॉ. गोपाल कृष्ण का, इन सभी में गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, आंबेडकर, धर्मपाल और यहाँ तक कि मार्क्सवादी साहित्यालोचक रामविलास शर्मा का भरपूर उल्लेख हुआ है। हिंदुत्व के संघ-पूर्व सिद्धांतकारों (सावरकर, मुंजे) का ज़िक्र इस साहित्य से तक़रीबन ग़ायब है।

इस लेख के दूसरे खंड की शुरुआत से पहले संघ द्वारा किए जा रहे परंपरा के इस्तेमाल पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालना उचित होगा। संघ शुरू से ही मानता रहा है कि हिंदू समाज के आपसी झगड़े उसकी कमज़ोरी की एक ऐतिहासिक वजह रहे हैं। अपनी इस समझ की पुष्टि ग़ैर-संघी स्रोतों से करने के लिए मोहन भागवत ने अपने व्याख्यान में डॉ. आंबेडकर की बौद्धिक साख का इस्तेमाल किया है, 'संविधान सभा में डॉ. आंबेडकर ने यह भी कहा था कि हमारी आपस की लड़ाई के कारण विदेशी जीते और हमको गुलाम बनाया। मैं उनके भाव बता रहा हूँ, उनके शब्दों को आप

डॉ. कृष्ण गोपाल (2017). इस प्रकाशन में वक्ता का परिचय एक सामाजिक चिंतक के रूप में छपा है 'जो भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तनों पर सतत चिंतन करते रहते हैं'. दरअसल, डॉ. कृष्ण गोपाल संघ के प्रमुख पदाधिकारियों में एक के रूप में सुपरिचित हैं.

[16] यहाँ नोट करना ज़रूरी है कि डॉ. कृष्ण गोपाल का यह तर्क जर्मन दार्शनिक हिगेल द्वारा विकसित किए गए युरोकेंद्रीयता के प्रमुख तर्कों में से एक का विलोम है. हिगेल भी युरोपीय जलवायु और भौगोलिकता का हवाला देते हुए युरोपीय श्रेष्ठता की स्थापना करते हैं, और डॉ. कृष्ण गोपाल द्वारा प्रतिपादित भारतीय स्वजाति-उत्कृष्टता का आग्रह भी इसी तरह के तर्क से निकलता है.

[17] अगर संघ के वैचारिक इतिहास पर नज़र डाली जाए तो 'सहयोग की परंपरा' का तर्क उसके सिद्धांतवेत्ता शुरू से देते रहे हैं. देखें, दीनदयाल उपाध्याय का 5 जून, 1962 को हरिगढ़ के संघ शिक्षा वर्ग में दिया गया व्याख्यान 'अपनी विचारधारा सहयोग पर आधारित', *कमल संदेश*, एक जनवरी, 16 जनवरी और एक फ़रवरी, 2021 को 'वैचारिकी' स्तंभ के तहत तीन किश्तों में प्रकाशित.

[18] देखें, दत्तोपंत ठेंगड़ी (2015). समता की जगह समरसता की स्थापना पर विस्तृत चर्चा के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2020) : 80-87.

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 13

पढ़ सकते हैं।'[19] मेरा ख़याल है कि संघ की यह चिंता उसे भारतीय परंपरा की एक ख़ास तरह की एकतरफ़ा व्याख्या की तरफ़ ले जाती है। इसके तहत संघ और उसके बुद्धिजीवी पूरी कोशिश करते हैं कि भारतीय (हिंदू) इतिहास और परंपरा में टकराव, विवाद, बहस, युद्ध, हिंसा, द्वंद्व, जातिगत उत्पीड़न और दमन के जितने भी प्रकरण और प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें किसी भी तरह से अहमियत न मिलने दी जाए। इसके लिए वे इन पहलुओं के विलोपीकरण (इरेज़र) की युक्ति अपनाते हैं। श्रमण दर्शन और लोकायतों के साथ ब्राह्मण धर्म की सहस्राब्दियों से चल रही बहस का संघ के लिए अस्तित्व भी नहीं है। इस चक्कर में वे परंपरा के बहुलतापरक ढाँचे को स्वीकार करते हुए भी उसे एकाश्म बना कर पेश करते नज़र आते हैं। यहाँ तक कि उन्हें आर्य समाज द्वारा सनातनी परंपरा की उग्र आलोचना से भी परहेज़ रहता है। स्वामी दयानंद के *सत्यार्थ प्रकाश* में वैदिक धर्म के अलावा बाक़ी सब कुछ (बौद्धों, जैनों, सिखों, कबीरपंथ, गोरखपंथ समेत) की विध्वंसकारी निंदा को संघ ने कभी स्वीकार नहीं किया। हिंदुत्व के संघ-पूर्व सिद्धांतकारों (सावरकर, मुंजे) का ज़िक्र उनके साहित्य से मोटे तौर पर ग़ायब रहता है। इसकी वजह भी यही है। सावरकर ने अपना लक्ष्य 'जातिबंदी' घोषित किया था, और अंग्रेज़ों द्वारा रत्नागिरी में सीमित कर दिए जाने के दौरान अगर उनके सामाजिक कार्यक्रम पर ग़ौर किया जाए तो जाति तोड़ने के मामले में वह आंबेडकर जैसा ही प्रतीत होता है। इसी तरह बालकृष्ण मुंजे वर्ण-व्यवस्था को अस्थिर करने के लिए अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के पक्ष में थे। इन हिंदू सिद्धांतकारों के प्रति श्रद्धावनत रहते हुए भी संघ ने उनके कार्यक्रमों को अपनाने से सदैव इंकार किया। वह किसी भी तरह के सामाजिक विवादों से बच कर राजनीतिक हिंदू एकता कायम करने की डगर पर चलता रहा।

II. एक टिकाऊ किसान आंदोलन का रोज़नामचा

पिछले साल (2020) जून के महीने तक आज्ञापालक समाज बनाने की मोदी-संघ परियोजना बिना किसी रोक-टोक के चल रही थी। विपक्ष ज़्यादा से ज़्यादा राज्यों के स्तर पर ही उन्हें चुनौती देने की स्थिति में था। वहाँ भी कुल मिला कर भाजपा की ज़बरदस्त सांगठनिक शक्ति और प्रधानमंत्री की शख़्सियत ही अंत में बाज़ी मारती नज़र आती थी। प्रधानमंत्री अपनी राजनीतिक शैली की संवादपरकता (जैसे 'मन की बात') का इस्तेमाल करके बीच-बीच में यह परीक्षा लेते रहते थे कि लोग उनकी और उनकी सरकार की बात किस हद तक मानने लगे हैं। कोरोना महामारी के कारण हुए लॉकडाउन के शुरुआती दौर में उनके द्वारा दिए जलाने और थालियाँ बजाने के आह्वान को इसी परीक्षा की तरह देखा जा सकता है। लेकिन, जून के महीने में उनकी सरकार ने एक ऐसा क़दम उठाया जिसके भीतर इस परियोजना को गड़बड़ाने की संभावनाएँ थीं। अनलॉक की प्रक्रिया शुरू होने के तीन दिन पहले (आठ जून, 2020 को सरकार ने विभिन्न सेवाओं को चरणबद्ध ढंग से खोलने की शुरुआत की थी) यानी पाँच जून को केंद्रीय मंत्रिपरिषद ने तीन कृषि अध्यादेशों को जारी करने की मंज़ूरी दी। ध्यान रहे कि मीडिया में महामारी के कारण उस समय राजनीति के किसी आयाम पर

[19] देखें, मोहन भागवत (2018), पूर्वोद्धृत : 57.

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 14

चर्चा नहीं हो रही थी। सरकार ने सोचा होगा कि इस कोविड-पीड़ित माहौल का लाभ उठा कर वह इन अध्यादेशों को चुपचाप जारी कर लेगी। इनके ख़िलाफ़ आवाज़ भी नहीं उठ पाएगी, क्योंकि महामारी के कारण किसी भी क़िस्म की राजनीतिक गोलबंदी प्रतिबंधित थी। आम तौर पर अपनी राजनीतिक कुशलता के लिए प्रशंसित होने वाली मोदी सरकार का यह आकलन पूरी तरह से ग़लत साबित हुआ। इन अध्यादेशों में पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, उत्तराखंड और तमिलनाडु के उन किसानों की नियमित आमदनी पर प्रतिकूल असर डालने के अंदेशे निहित थे जो साठ के दशक में हुई हरित क्रांति की पैदाइश हैं। दरअसल, कोविड के कारण छाई हुई राजनीतिक ख़ामोशी के बावजूद किसान यूनियनों के नेता लंबे अरसे से ज़मीन पर कान लगाए हुए सरकार के इस क़दम-क़दम की आहटें सुन रहे थे।

एक असाधारण आंदोलन की अंतर्कथा

किसान नेता बलबीर सिंह राजेवाल द्वारा जगराँव (पंजाब) की किसान महापंचायत में दिया गया चालीस मिनट का भाषण उस भीतरी कहानी का बयान करता है जो केंद्र सरकार द्वारा संसद में पारित कराए गए तीनों विवादास्पद क़ानूनों से जुड़ी हुई है। किसी भी सरकारी या भाजपा प्रवक्ता ने आज तक राजेवाल द्वारा इस भाषण में कही गई बातों का खंडन नहीं किया है। मिली-जुली पंजाबी-हिंदी में राजेवाल ने अपनी बात अक्टूबर, 2017 यानी तीन किसान क़ानूनों को अध्यादेश की शक्ल में पेश करने से तक़रीबन ढाई साल पहले से शुरू की। उन्होंने बताया कि इस महीने केंद्र सरकार ने एनआईटीआई आयोग में एक बड़ी बैठक आयोजित की जिसमें वे भी शामिल हुए थे। उनके साथ राजस्थान और महाराष्ट्र के दो किसान नेता भी थे। इस बैठक में सरकारी अफ़सरों और सरकारी अर्थशास्त्रियों के साथ-साथ निजी कंपनियों के सीईओ स्तर के प्रतिनिधि भी भाग ले रहे थे। चर्चा का विषय था खेती का संकट। बातचीत शुरू हुई तो एक सरकारी अर्थशास्त्री ने खड़े हो कर कहा कि अगर कृषि-क्षेत्र के संकट से पार पाना है तो निजी क्षेत्र को उसमें पूँजी निवेश करना होगा। इसके बाद एक निजी कंपनी के सीईओ ने खड़े हो कर कहा कि वे निवेश करने के लिए तैयार हैं, लेकिन उनकी कुछ शर्तें हैं। ये शर्तें मुख्य रूप से तीन थीं। पहली, सरकार पाँच-पाँच, सात-सात हज़ार एकड़ के विशाल रक़बे वाली ज़मीनें (क्लस्टर्स) बना कर उन्हें दे। दूसरी, उस ज़मीन पर खेती करने का ठेका पचास साल तक (यानी तीन पुश्तों तक) तय कर दिया जाए। तीसरी, किसान इस बंदोबस्त में कोई दख़ल न दें और उस ज़मीन पर मज़दूर की तरह काम करें। बैठक चलती रही– चलती रही। जो भी वक्ता उठता था, इसी से मिलती-जुलती बात करता था। लेकिन न राजेवाल को बोलने का मौक़ा मिला, न दूसरे किसान नेताओं (रामपाल जाट और विजय जवानिया) को। उनसे कहा गया कि धीरज रखिए, उनकी बात भी सुनी जाएगी। इस तरह मीटिंग ख़त्म होने में आधा घंटा रह गया।

अपनी बात कहने का समय न मिलता देख राजेवाल ने नाराज़गी व्यक्त की। उन्हें लग रहा था कि किसान नेताओं की महज़ हाज़िरी लगवा कर इस बैठक में मनमाने नतीजे निकाले जा रहे हैं। जब उन्होंने बॉयकाट की चेतावनी दी तो फिर बैठक को दो घंटे और चलाया गया जिसमें किसान नेताओं
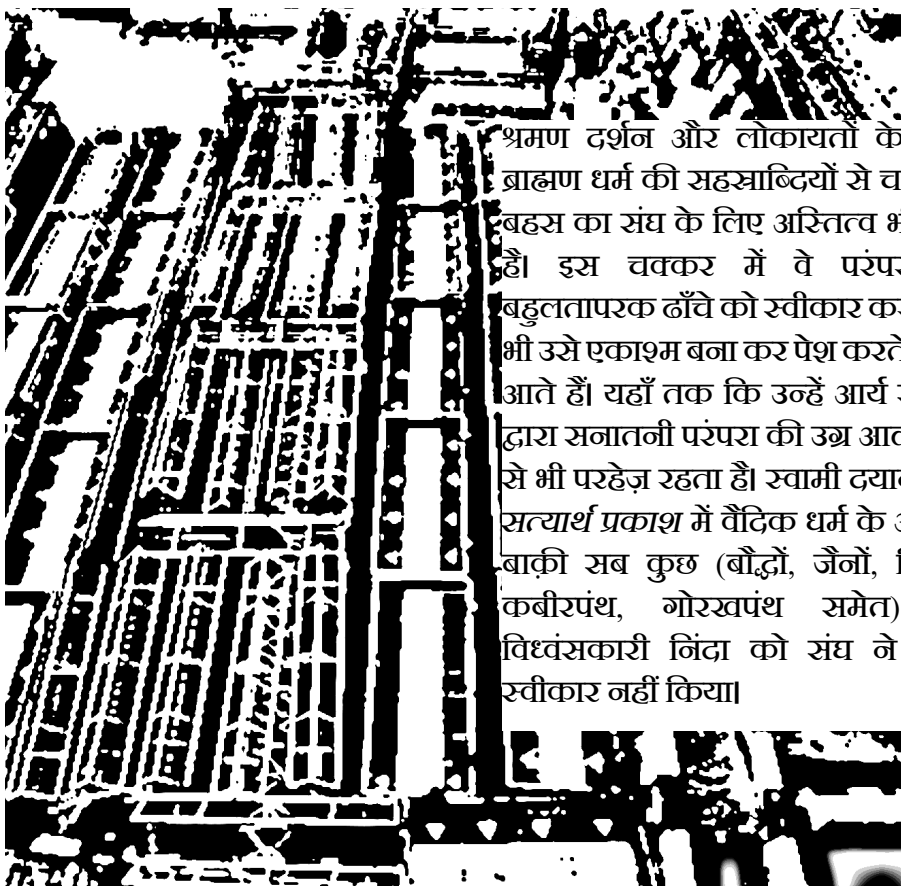
01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 15

श्रमण दर्शन और लोकायतों के साथ ब्राह्मण धर्म की सहस्राब्दियों से चल रही बहस का संघ के लिए अस्तित्व भी नहीं है। इस चक्कर में वे परंपरा के बहुलतापरक ढाँचे को स्वीकार करते हुए भी उसे एकाश्म बना कर पेश करते नज़र आते हैं। यहाँ तक कि उन्हें आर्य समाज द्वारा सनातनी परंपरा की उग्र आलोचना से भी परहेज़ रहता है। स्वामी दयानंद के *सत्यार्थ प्रकाश* में वैदिक धर्म के अलावा बाक़ी सब कुछ (बौद्धों, जैनों, सिखों, कबीरपंथ, गोरखपंथ समेत) की विध्वंसकारी निंदा को संघ ने कभी स्वीकार नहीं किया।

को भी बोलने का मौक़ा मिला। राजेवाल ने कहा कि पंजाब और हरियाणा के जाटों की सभ्यता-संस्कृति एक जैसी ही है। वे मुख्यत: 'ज़मींदार' (भूमिधर किसान) हैं। भले ही कोई अपनी ज़मीन बेच दे, फिर भी वह अपना परिचय ज़मींदार के बेटे के तौर पर ही देता है। शादी के रिश्ते की बात होने पर पहला सवाल यही पूछा जाता है कि आपके पास कितनी ज़मीन है। ऐसे जाट समाज को खेती का यह कॉरपोरेट बंदोवस्त रास नहीं आएगा। राजेवाल ने स्पष्ट चेतावनी दी कि सरकार ने कोई भी ग़लत क़दम उठाया तो कोई किसान नहीं मानेगा, भले ही उसके पास कम ज़मीन हो या ज़्यादा। सरकार हरियाणा और पंजाब के किसानों को कंट्रोल नहीं कर पाएगी।

राजेवाल का मानना है कि उनकी इस बात का सरकार और मीटिंग के अन्य भागीदारों पर असर पड़ता हुआ दिखाई दिया। लेकिन, राजेवाल के मुताबिक़ इस बैठक के बाद सरकार चुपचाप पेशबंदी करती रही। उन्हें भी शक हो गया था कि सरकार विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) और कॉरपोरेट पूँजी के दबाव में काम कर रही है।[20] इसलिए वे भी चुपचाप काग़ज़ात जमा करते रहे। इस बीच उनके

---

[20] देविंदर शर्मा (2019). कृषि सुधारों के इस पहलू (विश्व बैंक की भूमिका) पर चर्चा करते हुए देविंदर शर्मा विश्व बैंक की रपट

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 16

हाथ प्रधानमंत्री दफ़्तर द्वारा राज्य सरकारों को भेजा गया एक पत्र भी लगा, जिसमें गेहूँ की ख़रीद न करने की बात कही गई थी। इस पत्र को पढ़ने के बाद राजेवाल का शक गहरा गया। उन्होंने और दस्तावेज़ जमा किए। बीच-बीच में यूनियनों द्वारा किसान संसद, किसान पंचायत और सभा-सेमिनारों के कार्यक्रम करके अलख जगाई जाती रही। 2020 में 17 फ़रवरी को सभी राजनीतिक दलों के नेताओं को जमा करके इस समस्या पर एक सेमिनार जैसा आयोजन किया गया। इसमें उन्होंने सारे दस्तावेज़ों की प्रतियाँ राजनीतिक नेताओं को दी गईं। इस सेमिनार में कॉन्ग्रेस के सुनील जाखड़ ने मेज़ पर हाथ मार कर कहा — 'एमएसपी (न्यूनतम ख़रीद मूल्य) गई, एमएसपी गई, एमएसपी गई!' इसके बाद किसान संगठनों ने 24 फ़रवरी को चंडीगढ़ के परेड ग्राउंड में किसानों की रैली आयोजित करने का फ़ैसला किया। सरकार ने इसकी इजाज़त भी दे दी। सारा प्रबंध कर लिया गया। किसान चंडीगढ़ की तरफ़ चल पड़े। लेकिन ऐन मौक़े पर सरकार ने रैली पर पाबंदी लगा दी। चंडीगढ़ से मोहाली तक सारी सड़कें बीस-बीस किमी. तक किसानों के कारण जाम हो गईं। किसान मीलों पैदल चल कर चंडीगढ़ के परेड ग्राउंड आए। इस रैली में किसान संघर्ष का पहला बिगुल बजा।[21]

मार्च में लॉकडाउन हुआ, और जून में तीन कृषि अध्यादेश जारी हुए। नौ दिन के भीतर-भीतर किसान संगठनों ने रणनीतिक कुशलता का परिचय देते हुए आंदोलन की शुरुआत कर दी। यूनियनों के निर्देश पर 14 जून से 30 जून के बीच किसानों ने पूरा-पूरा दिन अपने घरों की छतों पर इन अध्यादेशों को वापिस लेने की माँग वाली तख़्तियों के साथ गुज़ारा। सरकार ने सोचा भी नहीं होगा कि इस तरीक़े से भी आंदोलन हो सकता है। पंजाब की सत्तारूढ़ कॉन्ग्रेस और मुख्य विपक्षी अकाली दल भी उस वक़्त इस मसले को लेकर ठंडे पड़े हुए थे। 19 अगस्त को 31 किसान संगठनों ने एक संयुक्त मंच का गठन कर लिया। किसानों के रोष का पहला सामना अकालियों और भारतीय जनता पार्टी को करना पड़ा। गाँवों में उनके नेताओं के घुसने पर पाबंदी लगा दी गई। 15 से 22 अगस्त के बीच पूर्व मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल के बादल गाँव स्थित घर के सामने पक्का मोर्चा (बड़ा टेंट लगा कर धरना) लग गया। किसानों ने मौजूदा मुख्यमंत्री अमरिंदर सिंह के निर्वाचन-क्षेत्र में भी पक्का मोर्चा लगाया। 15 सितंबर से ही सारे प्रदेश में ललकार रैलियों की शुरुआत कर दी गई। इससे पंजाब के राजनीतिक दलों और सरकार पर इतना दबाव पैदा हुआ कि केंद्र सरकार में अकाली दल की प्रतिनिधि हरसिमरत कौर को मंत्रिपद से इस्तीफ़ा देना पड़ा। (इससे पहले उनके पति सुखबीर सिंह बादल किसान संघों को यह समझाने की कोशिश कर रहे कि उन्होंने केंद्रीय कृषि मंत्री से बात कर ली है और तीनों कृषि अध्यादेशों से किसानों को फ़ायदा होने वाला है।)

25 से 30 सितंबर के बीच पंजाब में किसानों ने रेल रोको अभियान चलाया। वे पटरियों पर लेट गए और रेल का ट्रैफ़िक ठप्प हो गया। अकाली दल पर दबाव और बढ़ा। हरसिमरत के इस्तीफ़े के बाद अकाली दल को भाजपा से अपना 27 साल पुराना गठजोड़ तोड़ना पड़ा। यह बहुत बड़ी बात थी। आख़िरकार इसे एक सांप्रदायिक पार्टी के दूसरी सांप्रदायिक पार्टी से चल रहे 'नाखून-मांस'

का हवाला दे कर बताते हैं कि ये संस्थाएँ ज़मीन को 'अकुशल हाथों' यानी किसानों के हाथ से निकाल कर 'कुशल हाथों' यानी कॉरपोरेट पूँजी के हाथों में देने की योजना पर अमल करने के लिए भारत जैसी सरकारों पर दबाव डाल रही हैं.

[21] बलबीर सिंह राजेवाल के इस भाषण के लिए देखें, https://youtu.be/Z03TNQsBeiA

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 17

के रिश्ते (ख़ुद प्रकाश सिंह बादल के शब्दों में) के तौर पर देखा जाता था। ध्यान रहे कि रामजन्मभूमि आंदोलन के दौरान स्वयं प्रकाश सिंह बादल ने प्रेस कांफ्रेंस करके सिख कारसेवकों के जत्थे को अयोध्या भेजने की घोषणा की थी। एक अक्टूबर से 21 अक्टूबर के बीच 30 से ज़्यादा जगहों पर सवारी और मालगाड़ियाँ रोकी गईं। भाजपा नेताओं के घरों के सामने पक्के धरने शुरू कर दिए गए। 25 अक्टूबर को दिल्ली चलो का आह्वान किया गया। 13 नवंबर को किसान संघों की केंद्र सरकार से पहली बातचीत हुई। वायदे के मुताबिक़ इसमें कृषि मंत्री को आना था, पर आए केवल अफ़सरान। किसान संघों ने समझ लिया कि सरकार बाचतीच के नाम पर उन्हें झाँसा दे रही है। इसलिए उन्होंने सरकार की तरफ़ से दूसरे निमंत्रण का इंतज़ार किए बिना दिल्ली कूच का फ़ैसला किया, और 25 से 27 नवंबर के बीच किसान दिल्ली चल दिए।

आंदोलन का थिएटर केवल पंजाब तक सीमित नहीं था। भाजपा की सरकार वाले हरियाणा में भी आंदोलन चल रहा था। वहाँ के किसान दिल्ली कूच के लिए तो चल ही दिए थे, दरअसल प्रतिरोध दर्ज करने के लिए हरियाणा में किसानों ने सीधे-सीधे सत्ताधारियों को निशाना बनाने का फ़ैसला किया। उन्होंने ऐलान किया कि वे भाजपा और जेजेपी यानी जननायक जनता पार्टी (दुष्यंत चौटाला की सरकार में शामिल पार्टी) के नेताओं की कोई मीटिंग नहीं होने देंगे। 23 दिसंबर को अंबाला में मुख्यमंत्री मनोहर लाल खट्टर ने न केवल काले झंडों का सामना किया, बल्कि महाराजा अग्रसेन चौक से उनके काफ़िले को वापिस जाना पड़ा। वे अपनी पार्टी के मेयर पद के उम्मीदवार का प्रचार करने आए थे। जेजेपी के नेता दुष्यंत चौटाला ने अपने जींद स्थित निर्वाचन क्षेत्र में अपने लिए एक हैलिपैड बना रखा था। किसानों ने उसे नष्ट कर दिया। कैथल में खट्टर सरकार में मंत्री कमलेश ढाँढा के भागते हुए काफ़िले का किसानों ने काफ़ी दूर तक पीछा किया। फ़तेहाबाद में सतलज-यमुना लिंक नहर के मुद्दे पर राजनीति करके किसानों के आंदोलन पंजाब और हरियाणा के बीच बाँटने की सरकारी योजना किसानों के कड़े विरोध के कारण रद्द कर देनी पड़ी। कई गाँवों के बाहर भाजपा और जेजेपी के नेताओं के प्रवेश को प्रतिबंधित करने वाले बोर्ड लगा दिए गए। दस जनवरी को करनाल में भाजपा की तरफ़ से की जाने वाली किसान पंचायत में मुख्यमंत्री खट्टर हैलिकॉप्टर से आने वाले थे ताकि सरकार का पक्ष रख सकें। लेकिन, किसानों ने उनका उड़नखटोला उतरने ही नहीं दिया। आँसू गैस के गोलों से लैस डेढ़ हज़ार पुलिसवाले खड़े रह गए, लेकिन मुख्यमंत्री को वापिस जाना पड़ा। सरकारी किसान पंचायत नहीं हो पाई।

हरियाणा में भाजपा 26 जनवरी को हुई लाल क़िले की वारदात का कोई राजनीतिक लाभ उठाने में नाकाम रही। इसके लिए उसने जनसभाएँ करने की योजना बनाई थी। लेकिन किसानों के विरोध के कारण पार्टी एक भी मीटिंग नहीं कर पाई। उसके नेता पूरी तरह से अपने घरों में बंद रहे। पुलिस की सुरक्षा में भी उनकी बाहर निकलने की हिम्मत नहीं हो पाई। किसानों के गुस्से को देखते हुए मुख्यमंत्री खट्टर ने केंद्रीय मंत्री अमित शाह को सलाह दी कि वे हरियाणा का अपना दौरा फ़िलहाल रद्द कर दें। ज़ाहिर था कि करनाल की घटना के बाद सरकार को अपनी पुलिस पर विश्वास नहीं रह गया था कि वह किसानों के मुक़ाबले खड़ी रह कर सरकारी कार्यक्रम आयोजित करा सकती है। किसानों ने प्रदेश की मुख्य विपक्षी दल कॉन्ग्रेस को भी नहीं बख़्शा। आठ दिसंबर को कॉन्ग्रेस के

राष्ट्रीय प्रवक्ता और स्थानीय नेता रणदीप सिंह सुरजेवाला कैथल में धरनास्थल पर गए तो उन्हें हूटिंग का सामना करना पड़ा। पूर्व मुख्यमंत्री भूपिंदर सिंह हुड्डा का दिल्ली के टीकरी बॉर्डर पर यही हश्र हुआ। ज़ाहिर है किसानों को अच्छी तरह से पता था कि अगर कॉन्ग्रेस की सरकार होती तो वह भी कुछ वैसा ही करती जैसा मोदी सरकार ने किया है। आख़िरकार कॉन्ग्रेस के घोषणापत्र में एपीएमसी मंडियों को ख़त्म करने और कांट्रेक्ट फ़ार्मिंग लाने के वायदे दर्ज हैं।

ग़ाज़ीपुर बॉर्डर और आंदोलन की सामाजिक संरचना

सरकार ने शुरू में उपेक्षा का रवैया अपनाया। उसके रणनीतिकारों को लगता था कि यह किसान आंदोलन न बहुत दूर तक जाएगा, और न ही दूर तक फैलेगा। उसकी समझ यह थी (मोटे तौर पर सरकार की आलोचना करने वाले समीक्षकों और बुद्धिजीवियों का आकलन भी यही था) कि क़ानूनों से पैदा होने वाले अंदेशे मुख्य तौर पर मँझोले और बड़े किसानों तक सीमित हैं, और देश के अस्सी फ़ीसदी से ज़्यादा किसान छोटे और सीमांत श्रेणी में आते हैं। सरकार का मानना था कि इन किसानों को संतुष्ट रखने के लिए उसके पास सीधे खातों में रुपया पहुँचाने से ले कर मुफ़्त अनाज बाँटने जैसी युक्तियाँ हैं। लेकिन, जब आंदोलन टिका और उसकी चुनौती उभरी तो सरकार ने नकारात्मक और तोडफ़ोड़ वाला रवैया अपनाया। यह कोशिश बातचीत के दूसरे चक्र से ही शुरू हो गई। इधर वार्ता ख़त्म हुई, और उधर सरकार ने अपने प्रति नरम रुख़ रखने वाले किसान नेता या नेताओं से पीठ पीछे गुफ़्तगू शुरू कर दी। लेकिन इसके वैसे परिणाम नहीं निकले, जैसे सरकार और उसके रणनीतिकार चाहते थे। आंदोलन की माँगों का ठोस रूप किसानों के मन में इतना गहराई से उतर चुका था कि ढुलमुल रवैया रखने वाले किसान नेताओं को जल्दी ही समझ में आ गया कि अगर वे सरकार के पक्ष में दिखाई भी दिए तो जीवन भर की साख खो देंगे। दिल्ली के ग़ाज़ीपुर बॉर्डर पर उत्तरोत्तर मज़बूत हुए धरने की कहानी आंदोलन के इस पहलू का प्रमाण है।

अक्टूबर में जब धरना शुरू हुआ था, उस समय पश्चिमी उत्तर प्रदेश की भारतीय किसान यूनियन के नेतृत्व में तक़रीबन सौ किसान नैशनल हाईवे-24 को मेरठ एक्सप्रेस वे से जोड़ने वाले फ़्लाई ओवर के नीचे धरने पर बैठे थे। लेकिन, इससे न तो ट्रैफ़िक प्रभावित हो रहा था, और न ही कोई आंदोलनकारी नज़ारा दिखाई पड़ रहा था। सरकार पर किसी भी क़िस्म का दबाव बनाने में अक्षम इस धरने से जिस तरह की आवाज़ें निकल रही थीं, उनसे लगने लगा था कि यह आंदोलन कुछ ही दिन का मेहमान है। लेकिन तभी उत्तर प्रदेश में तराई के किसानों का आंदोलनकारी जत्था (इनमें ज़्यादातर सिख किसान थे) आया और जुझारू रुख़ अख़्तियार करते हुए फ़्लाईओवर के ऊपर धरना देना शुरू कर दिया। इससे ट्रैफ़िक रुकने लगा। पुलिस फ़्लाईओवर के नीचे बैठे किसानों के पास गई और ऊपर बैठे किसानों की शिकायत की कि वे मुश्किलें पैदा कर रहे हैं। इस पर नीचे बैठे किसानों ने ऊपर बैठे किसानों के पास जा कर अपील की कि वे भी वहाँ से हट कर नीचे बैठ जाएँ। लेकिन, तराई के जत्थे ने वहाँ से हटने से इनकार कर दिया। परिणाम यह निकला कि अगले दिन नीचे बैठे किसान भी ऊपर आकर धरना देने लगे। गोलबंदी बढ़ती गई।
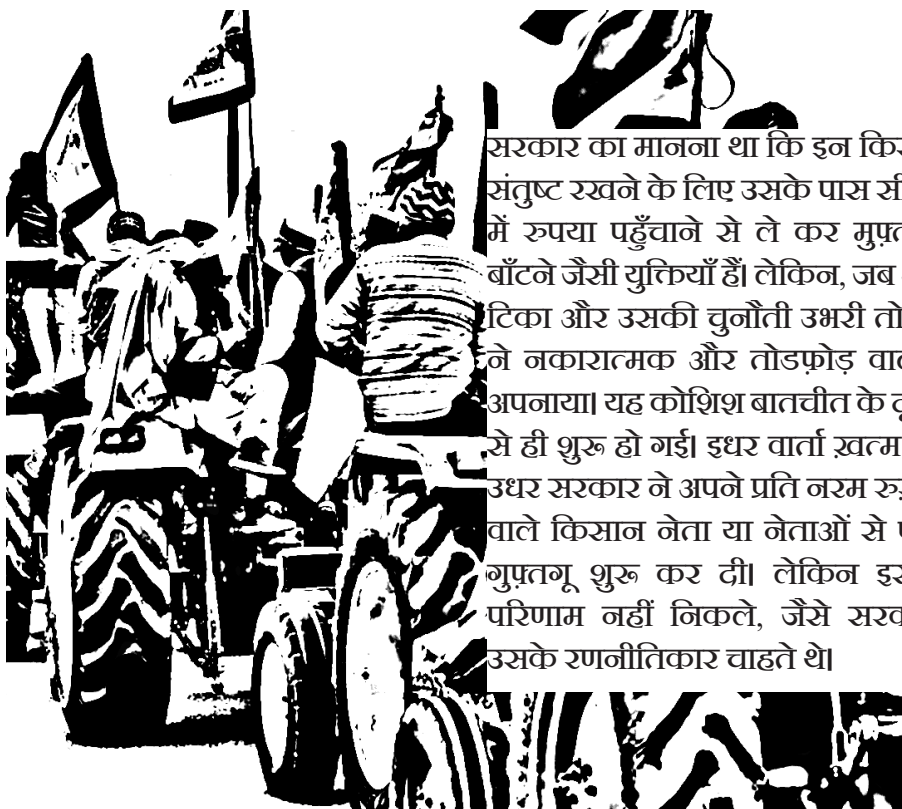
01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 19

सरकार का मानना था कि इन किसानों को संतुष्ट रखने के लिए उसके पास सीधे खातों में रुपया पहुँचाने से ले कर मुफ़्त अनाज बाँटने जैसी युक्तियाँ हैं। लेकिन, जब आंदोलन टिका और उसकी चुनौती उभरी तो सरकार ने नकारात्मक और तोडफ़ोड़ वाला रवैया अपनाया। यह कोशिश बातचीत के दूसरे चक्र से ही शुरू हो गई। इधर वार्ता ख़त्म हुई, और उधर सरकार ने अपने प्रति नरम रुख़ रखने वाले किसान नेता या नेताओं से पीठ पीछे गुफ़्तगू शुरू कर दी। लेकिन इसके वैसे परिणाम नहीं निकले, जैसे सरकार और उसके रणनीतिकार चाहते थे।

छब्बीस से अट्ठाईस जनवरी के बीच दिल्ली में जो कुछ हुआ, वह किसान आंदोलन के बुनियादी चरित्र और सरकार द्वारा उसके प्रति अपनाए गए रवैये पर गहरे विचार-विमर्श की माँग करता है। इस घटनाक्रम से निकल कर यह आया है कि अगर किसी आर्थिक माँगों वाले 'सेकुलर' और ग़ैर-धार्मिक आंदोलन के पीछे धर्म और समुदाय का समर्थन और शक्ति हो तो उसे सर्वशक्तिमान सरकार और उसके समर्थक मीडिया द्वारा भी हराना आसान नहीं होता। ऐसा आंदोलन प्रतिरोध की उन गोलबंदियों के मुक़ाबले अधिक टिकाऊ होता है जो किसानों-मज़दूरों-कर्मचारियों-छात्रों-युवाओं-स्त्रियों-दलितों आदि के नाम पर अक्सर की जाती हैं। गणतंत्र दिवस पर किसानों की ट्रैक्टर परेड के दौरान एक गुट द्वारा तयशुदा कार्यक्रम और रास्ते को छोड़ते हुए लाल क़िले पर निशान साहब का झंडा फहरा दिया गया था। इन लोगों ने काफ़ी उत्पात मचाया, और हिंसा भी की। सरकार को लगा कि इस वारदात का लाभ उठा कर वह किसानों से दिल्ली की सीमाएँ ख़ाली करवा सकती हैं। इसके लिए उसने तीन तरह के क़दम उठाए। सबसे पहले तो रात में सीमाओं पर किसानों के जमावड़े को मिलने वाली सुविधाएँ (बिजली, पानी, आदि) वापिस ले ली गईं। दूसरे, सुबह होते ही इन सीमाओं पर सुरक्षा बलों की संख्या कई गुनी बढ़ा दी गई, और प्रशासन ने धरना दे रहे किसानों को अल्टीमेटम दिया कि वे सीमाओं को ख़ाली कर दें, वरना उन्हें बलपूर्वक हटा दिया जाएगा। तीसरे, भाजपा कार्यकर्ताओं और कुछ स्थानीय लोगों द्वारा किसानों के ख़िलाफ़ उग्र प्रदर्शन करवाए

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 20

गए, और उन्हें कुछ इस तरह से पेश किया गया कि लाल क़िले पर हुए तिरंगे का कथित अपमान लोगों से बरदाश्त नहीं हो रहा है। ये प्रदर्शनकारी खुल कर किसानों को ख़ालिस्तानी एजेंट कह रहे थे, और अंधा भी देख सकता था कि पुलिस किस तरह उनकी मदद कर रही है। और तो और, लाल क़िले वाले प्रकरण में घायल हो गए पुलिस वालों के परिजनों तक को प्रदर्शन में उतार दिया गया। सरकार को उम्मीद थी कि इस तितरफ़ा रणनीति से ज़बरदस्त दबाव पैदा होगा, और लाल क़िले की घटना से आंदोलन में जो हताशा आई है, उसका लाभ उसे मिलेगा।

लेकिन, 24 घंटे में बाज़ी पलट गई। लाल क़िले पर निशान साहब फहराए जाने से सरकार को लगने लगा था कि सारे पत्ते उसी के हाथों में आ गए हैं। इससे वह जोश में आ गई, और गरम लोहे पर ज़ोर की चोट मारने के चक्कर में उसने स्वयं अपने आप को घायल कर लिया। हुआ यह कि ग़ाज़ीपुर सीमा पर जब तक पुलिसवाले धरना देने वाले किसानों पर दबाव डाल रहे थे, तब तक तो पलड़ा सरकार के पक्ष में झुका हुआ था। किसान नेता राकेश टिकैत और उनके साथी प्रशासन से बातचीत के दौरान अपनी गिरफ़्तारियाँ देने के लिए तैयार हो गए थे। ऐसा लग रहा था कि थोड़ी ही देर में इन लोगों की गिरफ़्तारी हो जाएगी, और नैशनल हाईवे-24 ख़ाली करा लिया जाएगा। लेकिन, तभी सीमाओं के इर्द-गिर्द वाले इलाक़े से चुने गए दो भाजपा विधायकों ने अपने हथियारबंद समर्थकों के साथ आ कर परिस्थिति में हस्तक्षेप किया। ये लोग सरकारी पार्टी के तो थे, पर सरकार और प्रशासन के नुमाइंदे नहीं थे। बात बिगड़ गई। टिकैत ने मंच पर आ कर हटने से इनकार कर दिया, क्योंकि उन्हें लगा कि अगर वे गिरफ़्तारी दे कर मौक़े से चले गए तो भाजपा के हथियारबंद लोग उपस्थित किसानों के साथ जम कर हिंसा करेंगे। इसके बाद जो हुआ, वह इतिहास बन गया। भावावेश में बहे टिकैत के आँसुओं ने उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब और राजस्थान के जाट समुदाय को उत्तेजित कर दिया। विशाल महापंचायतों का दौर चल निकला। जो किसान चले गए थे, वे तो वापिस आ ही गए, नए किसानों ने भी आंदोलन की जगहों में अपनी मौजूदगी से ऊर्जा का संचार कर दिया। दरअसल, आंदोलन के पीछे खाप पंचायतों और सिख गुरुद्वारों की वह संगठन-शक्ति है जिसके लिए यह समुदाय और धर्म परंपरागत रूप से जाना जाता है। अगर सरकार पानी बंद कर देगी, तो मेरे गाँव से पानी आ जाएगा — यह दावा कोई तभी कर सकता है जिसे पता हो कि उसके पीछे कौन खड़ा है। इसी तरह नौ बार विज्ञान भवन जा कर सरकार से बात करना, और एक बार भी सरकार की चाय और खाने को स्वीकार न करना, हर बार गुरुद्वारे के लंगर से किसान नेताओं के लिए खाना आना — यह भी ऐसा ही प्रतीक है। यह प्रकरण हमें गांधी की भी याद दिलाता है। उन्होंने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में जनगोलबंदी करने के लिए अपने व्यक्तित्व के धार्मिक पहलुओं का इस्तेमाल करने में कभी संकोच नहीं किया था। गांधी के आंदोलनों की सफलता के पीछे धर्म और परंपरा की शक्ति से कोई इनकार नहीं कर सकता। समीक्षकों को चाहिए कि वे दिल्ली की सीमाओं पर घट रहे इतिहास को ध्यान से देखें, और फिर अंदाज़ा लगाएँ कि इस घटनाक्रम का निकट भविष्य में चुनावी राजनीति पर क्या असर होगा।

अस्सी के दशक में राकेश टिकैत के पिता महेंद्र सिंह टिकैत (जिन्हें महात्मा टिकैत के नाम से भी पुकारा जाता था) पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ज़बरदस्त किसान नेता बन कर उभरे थे। उन्होंने उत्तर प्रदेश की तत्कालीन वीरभद्र सिंह सरकार को अपने सामने घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया था। इसी

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 21

तरह दिल्ली में राजीव गांधी की सरकार को भी उनकी माँगें माननी पड़ी थीं। टिकैत के किसान आंदोलनकारी जहाँ बैठ जाते थे, वहाँ से तब तक नहीं हटते थे जब तक उनकी बात मान न ली जाए। मुझे याद है कि उस समय *जनसत्ता* अख़बार में एक शीर्षक छपा था — 'टिके रहेंगे टिकैत'। यह शीर्षक हिंदी के अनुप्रास अलंकार का प्रयोग ही नहीं था, बल्कि इसमें सामुदायिक शक्ति से संपन्न एक समुदाय की लोकतांत्रिक ज़िद की अभिव्यक्ति भी थी। अब आधुनिक राजनीति की अहलकारी करने वाले समीक्षकों की आँखों के सामने स्पष्ट हो गया है कि परंपरा, समुदाय और धर्म से निकलने वाली ताक़तों को ग़ैर-धार्मिक और ग़ैर-सामुदायिक उद्देश्यों के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता है। इस आंदोलन से पहले होता यह था कि समुदाय अपने हितों के लिए होने वाले आंदोलनों में ही सक्रिय होते थे। इसका उदाहरण गूजरों द्वारा अक्सर किया जाने वाला वह आंदोलन है जिसमें वे अपने समुदाय को ओबीसी श्रेणी से हटा कर आदिवासी आरक्षण की श्रेणी में डालने की माँग करते हुए दिखते हैं। इसी तरह महाराष्ट्र की सड़कों पर मराठाओं द्वारा निकाले गए विशाल मौन जुलूसों को भी देखा जा सकता है जिसमें वे अपने लिए आरक्षण की माँग करते हैं।

वार्ता की पैंतरेबाज़ी

चौदह अक्टूबर को कृषि भवन में किसान संघों के 29 नुमाइंदों के साथ केंद्रीय कृषि सचिव संजय अग्रवाल की वार्ता के रूप में पहली बैठक हुई थी। किसानों से कहा गया था कि इस बैठक में कृषि मंत्री आएँगे, लेकिन वहाँ केवल कृषि सचिव मौजूद थे। राजेवाल के अनुसार किसानों ने अग्रवाल को एक पत्र दिया और विरोधस्वरूप बैठक का बॉयकाट कर दिया। इस पत्र में उनकी सभी माँगें दर्ज थीं। इन माँगों में तीनों क़ानूनों को रद्द करने की माँग भी स्पष्ट रूप से थी। यह तथ्य बताता है कि किसान आंदोलन ने यह माँग बाद में नहीं जोड़ी, बल्कि वह शुरू से ही इसे उठा रहा था। सरकार का कहना है कि पहले किसान संगठन केवल न्यूनतम समर्थन मूल्य को क़ानूनी रूप देने की माँग कर रहे थे, पर बाद में वे क़ानूनों को वापिस लेने पर अड़ गए। लेकिन, अगर यूनियनों द्वारा कृषि सचिव को दिए गए माँग पत्र को देखा जाए तो सरकार का यह दावा ग़लत साबित होता है।

तेरह नवंबर को किसानों के प्रतिनिधियों की केंद्रीय मंत्रियों (कृषि मंत्री नरेंद्र सिंह तोमर और रेल मंत्री पीयूष गोयल) से विज्ञान भवन में सात घंटे तक बात हुई। कोई नतीजा नहीं निकला। 18 नवंबर को किसान नेताओं ने अपनी बैठक करके रणनीति बनाई। एक दिसंबर को विज्ञान भवन में फिर से मंत्रियों के साथ किसान नेता बैठे। इस बार सरकार ने विशेषज्ञों और किसान नेताओं की पाँच सदस्यीय कमेटी बनाने का प्रस्ताव किया। इसे किसानों के प्रतिनिधियों ने तुरंत ख़ारिज कर दिया। इसके उलट उन्होंने संसद का विशेष सत्र बुला कर इन क़ानूनों की वापिसी का सुझाव दिया। शाम को कृषि मंत्रालय में भारतीय किसान यूनियन के हरियाणा, उत्तर प्रदेश, दिल्ली और उत्तराखंड के प्रतिनिधियों के साथ अलग से बैठक आयोजित की गई। इससे स्पष्ट हो गया कि सरकार किसान नेतृत्व की एकता तोड़ना चाहती है। एक तरफ़ तो वह संयुक्त किसान मोर्चा से भी बात कर रही है, और दूसरी तरफ़ उसने भाकियू के साथ बात करके अलग मोर्चा खोल दिया है। इसके बाद तीन दिसंबर को बातचीत का अगला चक्र चला। आठ घंटे तक इस बातचीत में किसान नेताओं ने सरकार का खाना-पानी भी ठुकरा दिया। इस चर्चा में किसानों ने

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 22

विस्तार से तीनों क़ानूनों की कमियों और उनके कारण किसानों को हो सकने वाले नुक़सानों के बारे में अपना पक्ष रखा। सरकार सुनती रही, पर इसके आगे बात नहीं बढ़ी। पाँच दिसंबर को हुई अगली बैठक में भी कोई परिणाम नहीं निकला। इसमें कृषि मंत्री ने यूनियनों से अपील की कि वे बुज़ुर्गों, स्त्रियों और बच्चों को घर भेज दें, क्योंकि सर्दी लगातार बढ़ती जा रही है। इसके बाद सात दिसंबर को हरियाणा के 'बीस प्रगतिशील किसानों' ने सरकार को ज्ञापन दिया कि वह क़ानूनों की वापसी की माँग पर ध्यान न दे और धरना दे रहे किसानों के सुझावों के अनुसार क़ानूनों में संशोधन करके इस गतिरोध का हल निकाले। पहली नज़र में ही साफ़ था कि ये तथाकथित रूप से प्रगतिशील किसान सरकार द्वारा प्रायोजित थे। वार्ता के अगले दौर से एक दिन पहले यानी आठ दिसंबर को गृह मंत्री अमित शाह ने 13 किसान नेताओं (आठ पंजाब के और पाँच अन्य संगठनों के) से बातचीत करके गतिरोध तोड़ने की कोशिश की। समझा जाता है कि इस बैठक में माकपा के किसान नेता हन्नान मुल्ला और भाकियू के राकेश टिकैत भी शामिल थे। इस बैठक से पहली बार आंदोलन का नेतृत्व कर रहे किसान नेताओं के समूह में मतभेद पैदा हुए।

राजेवाल का कहना है कि सरकार इस आंदोलन को पंजाब-हरियाणा के किसानों तक सीमित मानती है। दरअसल, वह इन प्रांतों के बेहतरीन मंडी सिस्टम को तोड़ देना चाहती है। इसके ख़त्म होने के बाद कृषि को कॉरपोरेट सेक्टर में देने के विरोध की संभावना ही पूरी तरह से ख़त्म हो जाएगी। उन्होंने किसान नेताओं और सरकार के बीच हुई 11 दौर की बातचीत के कुछ दिलचस्प पहलू भी जगराँव की महापंचायत में बयान किए। उन्होंने बताया कि सरकार ने तीनों क़ानूनों पर 'क्लॉज़-दर-क्लॉज़' चर्चा करने के लिए कहा। किसान नेता तैयार हो गए, और उन्होंने 'क्लॉज़-दर-क्लॉज़' क़ानूनों की कमियाँ बतानी शुरू कीं। सरकारी पक्ष हर कमी को नोट करता था, और कहता कि इसे संशोधन करके ठीक कर देंगे। जब कमियाँ बहुत ज़्यादा हो गईं, किसान नेताओं ने कहा कि इतने संशोधन करके क्या होगा, क्यों नहीं क़ानून ही रद्द कर देते। इस पर सरकार तैयार नहीं हुई। उसका कहना था कि संशोधन जितना चाहे करवा लो, लेकिन क़ानून वापसी की बात न करो।

III. प्रतिरोध का व्याकरण

आंदोलन कितना भी रैडिकल हो, अगर शुरू हो कर जल्दी ही ख़त्म हो जाए तो एक भुला दिए गए नारे की तरह हो जाता है। लेकिन, कम से कम छह महीने से साल भर चलने वाले टिकाऊ आंदोलन में प्रतिरोध की राजनीति के नवीकरण की संभावनाएँ होती हैं। आंदोलन समाज के समर्थन और हमदर्दी से ही टिकता है, ख़ासकर ग़ैर-पार्टी संरचना वाला आंदोलन। इस किसान आंदोलन का संचालन करने वाली यूनियनें और उनके नेता शुरू से ही समझते थे कि उनका सरकार विरोधी मोर्चा लंबा चलने वाला है। सुनने पर यक़ीन नहीं होता, लेकिन किसान नेता तो यहाँ तक कहते हैं कि वे दिल्ली की सीमाओं पर 2024 तक बैठने के लिए तैयार हैं।[22] पहले लग रहा था कि इस आंदोलन को समाज के अन्य हिस्सों से मिलने वाली हमदर्दी मुख्य तौर पर निष्क्रिय क़िस्म की है। लेकिन यह

---

[22] सुनें, किसान नेता जोगिंदर सिंह उग्रहाँ का अजीत अंजुम के साथ दो खंडों में इंटरव्यू, https://youtu.be/8UwodE7WEYI और https://youtu.be/Z03TNQsBeiA

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 23

आकलन यथार्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। आंदोलन का हर गुज़रता हुआ और नया आता हुआ दिन सरकार का संकट बढ़ा रहा है। यह एक ऐसा संकट है जिसकी जकड़ बिना किसी आवाज़, हंगामे और बड़ी उथल-पुथल के सरकार और उसके नेतृत्व की साख में क्रमश: छोटी-छोटी कटौती किए जा रही है। दिलचस्प बात यह है कि सरकार और नेतृत्व की प्रतिष्ठा में आई गिरावट का पहला आँकड़ागत सबूत सामने आ गया है।

एबीपी न्यूज़ चैनल द्वारा कराया गया सी-वोटर का 'देश का मूड' सर्वेक्षण सत्तारूढ़ पार्टी को बेचैन करने के लिए काफ़ी है।[23] सर्वेक्षण में लोगों से सवाल पूछा गया कि क्या किसान आंदोलन से सरकार को नुक़सान होगा? 52 फ़ीसदी लोगों ने इसका उत्तर 'हाँ' में दिया (34 फ़ीसदी ने 'न' में और 14 फ़ीसदी ने 'पता नहीं' में जवाब दिया)। किसान आंदोलन से सबसे ज़्यादा प्रभावित हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश में उनके मुख्यमंत्रियों और प्रधानमंत्री की लोकप्रियता रेटिंग अफ़सोसजनक निकली। हरियाणा में मुख्यमंत्री केवल आठ फ़ीसदी और प्रधानमंत्री सिर्फ़ 24 फ़ीसदी लोकप्रिय निकले। पंजाब में यही प्रतिशत दस और 28 एवं उत्तर प्रदेश में 35 और 23 प्रतिशत निकला। चौंकाने वाला आँकड़ा यह रहा कि केंद्र सरकार के कामकाज से 26 नवंबर को (जब दिल्ली की सीमा पर किसानों के जमावड़े का शुरुआती दौर था) 71 फ़ीसदी लोग ख़ुश थे, लेकिन 11 जनवरी को यह आँकड़ा घट कर 66 फ़ीसदी रह गया।

कहना न होगा कि अभी भी केंद्र सरकार की रेटिंग काफ़ी अच्छी है, लेकिन इतनी गिरावट भी पहली बार देखी गई है, उसका एकमात्र कारण किसानों की घेराबंदी ही है। चूँकि पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के किसान इस आंदोलन के हरावल में जमे हुए हैं, इसलिए तीनों प्रदेशों की राजनीति पर इसका असर लाज़िमी तौर पर पड़ेगा ही। यह पूछा जा सकता है कि यह सर्वेक्षण किस हद तक भरोसेमंद है? हर सर्वे एक संकेतक की भूमिका निभाता है। वह हाँड़ी का एक चावल है जिसे टटोल कर कुछ-कुछ पता लगाया जा सकता है कि पकने में कितनी देर है। सर्वेक्षण के आँकड़े इशारा करते हैं कि आम लोग सरकार की संबंधित विफलताओं को ध्यान से देख रहे हैं। आंदोलन ने शहरी मध्यवर्ग और अन्य ग़ैर-किसान तबक़ों को एक राजनीतिक आत्मीयता के साथ अपनी ओर आकर्षित करना शुरू कर दिया है। पहले भाजपा की तरफ़ से आंदोलनकारियों को

अब आधुनिक राजनीति की अहलकारी करने वाले समीक्षकों की आँखों के सामने स्पष्ट हो गया है कि परंपरा, समुदाय और धर्म से निकलने वाली ताक़तों को ग़ैर-धार्मिक और ग़ैर-सामुदायिक उद्देश्यों के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता है। इस आंदोलन से पहले होता यह था कि समुदाय अपने हितों के लिए होने वाले आंदोलनों में ही सक्रिय होते थे। इसका उदाहरण गूजरों द्वारा अक्सर किया जाने वाला वह आंदोलन है जिसमें वे अपने समुदाय को ओबीसी श्रेणी से हटा कर आदिवासी आरक्षण की श्रेणी में डालने की माँग करते हुए दिखते हैं।

[23] सर्वेक्षण के इन आँकड़ों के लिए देखें, https://www.abplive.com/news/india/desh-ka-mood-abp-news-abp-news-survey-farmer-protest-coronavirus-vaccine-1725712

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 24

ख़ालिस्तानी एजेंट और टुकड़े-टुकड़े गैंग का सदस्य बताने जैसी घिनौनी अफ़वाहें उड़ाई जा रही थीं। कुछ वरिष्ठ मंत्रियों ने तो साफ़ तौर पर शक व्यक्त किया था कि आंदोलन पर वामपंथी तत्त्व हावी होते जा रहे हैं। अब स्थिति यह है कि इस तरह का कुप्रचार भी दब गया है। शायद इसलिए कि इस पर किसी ने विश्वास नहीं किया।

चूँकि इसके पीछे मुख्य तौर पर पंजाब और देश के सिख समाज की ज़बदस्त सांगठनिक शक्ति भी काम कर रही है, इसलिए यह आंदोलन संघ की हिंदुत्ववादी विचारधारा के लिए अस्थिरकारी है। हिंदुत्व की विचारधारा मानती है कि सिख व्यापक हिंदू एकता के स्वाभाविक अंग हैं, क्योंकि खालसा पंथ इस्लाम और ईसाइयत के विपरीत भारत में ही पैदा हुआ धर्म है। 1984 में हुई सिख विरोधी हिंसा को संघ परिवार इसलिए दुर्भाग्यपूर्ण मानता है कि उसके कारण हिंदुओं और सिखों के बीच संबंधों में गाँठ पड़ गई थी। उसे डर है कि यह आंदोलन एक बार फिर वैसी ही परिस्थिति पैदा कर सकता है। अगर ऐसा हुआ तो हिंदुत्व की दूरगामी परियोजना साँसत में पड़ जाएगी। अगर सिख भाजपा और संघ परिवार से फिरंट होते हैं, तो वे दूसरे अल्पसंख्यक समुदायों के ज़्यादा नज़दीक चले जाएँगे। उनका समाज शक्तिशाली, संगठित, संसाधनयुक्त, फ़ौजी अतीत और वर्तमान से संपन्न होने के साथ-साथ युरोप, कनाडा और अमेरिका में अच्छी-ख़ासी समर्थनकारी उपस्थिति से लैस है। सिखों में अगर अल्पसंख्यक मानसिकता ने ज़ोर पकड़ा, तो वह भाजपा के लिए अच्छी ख़बर नहीं होगी।

आंदोलन पर नज़दीकी नज़र रख रहे प्रेक्षकों ने इसके कारण चल रही कुछ सामाजिक-राजनीतिक-वैचारिक प्रक्रियाओं की तरफ़ इशारा किया है। इन्हें बिंदुवार इस प्रकार देखा जा सकता है :

◆ इस आंदोलन के कारण राजनीतिक विमर्श में प्रचलति 'कुलक', बड़ा किसान, मँझला किसान, छोटा किसान और ग़रीब किसान जैसी श्रेणियों पर पुनर्विचार की गुंजाइश पैदा हुई है। नक़दी फ़सलें उपजाने वाले किसानों और उनके आंदोलनों को 'फ़ार्मर्स मूवमेंट' या धनी किसानों के आंदोलनों की संज्ञा दी जाती रही है। वामपंथी राजनीति के दायरे में समझा जाता रहा है कि किसान सभाओं द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलनों की राजनीति और इन फ़ार्मर्स मूवमेंट्स की राजनीति में कोई सकारात्मक रिश्ता नहीं हो सकता। आंदोलन के दौरान सामने आए नए तथ्यों ने इस स्थापित समझ को गड़बड़ा दिया है। अब कई विशेषज्ञ बता रहे हैं कि ग़रीब और मँझोले किसान भी सरकारी ख़रीद पर निर्भर हैं। कृषि क़ानूनों को उनकी आमदनी पर भी विपरीत असर पड़ने वाला है।

◆ हरित क्रांति के अनुभव ने इस आंदोलन के संचालकों को एक पहलू के प्रति विशेष तौर पर सतर्क किया है। हो सकता है कि नए क़ानूनों के कारण एक सीमा तक किसानों को शुरुआती लाभ हों। ऐसा लाभ हरित क्रांति के दौरान भी हुआ था। लेकिन, जल्दी ही उसके नुक़सान सामने आने लगे। किसानों की आमदनी गिरने लगी। हरित क्रांति के गर्भ से किसानों की आत्महत्याएँ निकलीं। पंजाब और हरियाणा में दो लाख किसानों की ज़मीनें बिक गईं। किसान नेताओं का कहना है कि नए क़ानून हो सकता है कि शुरू में आमदनी बढ़ा दें, लेकिन इनका परिणाम भूमिहीनीकरण में निकलेगा।

◆ आज़ाद भारत के इतिहास में कृषि की अर्थव्यवस्था के ऊपर इतनी बहुआयामी चर्चा

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 25

कभी नहीं हुई जितनी इस आंदोलन के कारण हो रही है। इस बहस की ख़ास बात यह है कि इसमें बाज़ारवादी अर्थशास्त्रियों के बीच भी दो पक्ष हो गए हैं। भारत सरकार के दो पूर्व मुख्य आर्थिक सलाहकार कौशिक बसु और रघुराम राजन मानते हैं कि ये क़ानून ऊपर से तो दुरुस्त लगते हैं, लेकिन बारीक़ी से जाँच करने पर साफ़ हो जाता है कि इनमें छोटे और ग़रीब किसानों के हितों की सुरक्षा का बंदोबस्त नहीं किया गया है। दूसरी तरफ़ अरविंद पनगढ़िया, सुरजीत भल्ला और स्वामीनाथन अय्यर को इन क़ानूनों में कोई ख़ामी नहीं लगती।

◆ किसान आंदोलन ने खेतों की पैदावार को बेचने-ख़रीदने के मौजूदा और नए प्रस्तावित बंदोबस्त के बारे में सघन चर्चा को जन्म दिया है। सरकार का कहना है कि तीनों कृषि क़ानूनों के कारण किसानों को अपनी उपज 'बाज़ार' में जिसे चाहे, जहाँ चाहे और लाभकारी दामों पर बेचने की 'आज़ादी' मिल जाएगी। इस दावे में जो 'बाज़ार' है, वह किस क़िस्म का है, और उसे जो 'आज़ादी' देने का भरोसा दिया जा रहा है, उसका किरदार क्या है? क्या इस बाज़ार की संरचना उसी बाज़ार जैसी है जिसमें हम टीवी, फ़्रिज, कंप्यूटर, कार या अन्य छोटे-बड़े उपभोक्ता सामान ख़रीदते हैं? क्या जिस बाज़ार की सरकार चर्चा कर रही है, उसमें किसान की फ़सल के दाम उसी तरह से तय होते हैं जिस तरह से कारख़ाने में बनने वाले माल के दाम निर्धारित किए जाते हैं? जिस तरह से इन उपभोक्ता चीज़ों की 'सेल' लगती है, क्या उसी तरह से किसानों की उपज की भी आने वाले समय में 'सेल' लग सकती है? पच्चीस से पचास फ़ीसदी कम दामों की 'सेल' के बावजूद उपभोक्ता-वस्तुओं को बेचने वाले कुछ कम सीमा तक मुनाफ़ा हासिल कर ही लेते हैं। किसानों के लिए सरकार के पास जिस बाज़ार की योजना है, क्या उसमें ऐसा अनिवार्य न्यूनतम मुनाफ़ा किसानों को भी मिल सकता है? पहली बात तो यह है कि किसान दुनिया में कहीं भी फ़ैक्ट्री मालिकों की तरह बाज़ार की माँग को देख कर फ़सल नहीं उगाते। सभी किसानों की फ़सल एक निश्चित वक़्त पर ही पकती और बिकने के लिए तैयार होती है। वे उसे फ़ैक्ट्री के माल की तरह दूरदराज़ के इलाक़ों में नहीं भेज सकते। वे फ़सल पकते ही उसे स्थानीय बाज़ार में लाने के लिए मजबूर होते हैं। कारख़ाने में बनी वस्तुओं की लागत, टैक्स, विज्ञापन, दूसरे ऊपरी ख़र्चों और आगे चल कर सेल में बेचे जाने की परिस्थिति को मिला कर उसके ऊपर मुनाफ़ा लगा कर 'मार्क-अप' बनाया जाता है। इससे हर हालत में मुनाफ़े की गारंटी मिलती है। खेत में उपजे माल की प्रकृति अलग होती है। इसमें छोटा और ग़रीब किसान (जो इस देश में अस्सी प्रतिशत है) कम उपज होने पर भी आमदनी घटने के ख़तरे का सामना करता है, और अधिक उपज हो जाने पर भी दामों के तेज़ी से गिरने के कारण उसकी आमदनी अक्सर शून्य के बराबर हो जाती है। केवल बड़ा किसान ही इतना सक्षम होता है कि अपनी अधिक उपज की स्थिति में फ़सल को अपने भंडार में रोक कर दाम दुरुस्त होने का इंतज़ार कर सके। छोटा किसान चूँकि हर समय कम आमदनी के ख़तरे से ग्रस्त रहता है, इसलिए उसे हरदम स्थानीय स्तर पर ऋण की ज़रूरत रहती है। यह क़र्ज़ उसे आढ़तियों और स्थानीय सूदख़ोर से मिलता है। इस तरह छोटा किसान ऋण

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 26

और फ़सल के चक्र के साथ मंडी के साथ बँधे रहने के लिए मजबूर है।[24]

◆ किसान नेताओं के साक्षात्कारों[25] को सुनने से एक बात बहुत स्पष्ट हो कर निकलती है कि वे इस संघर्ष को एक बहुत लंबे और व्यापक संघर्ष के पहले चरण के रूप में देखते हैं। वे मानते हैं कि न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) के दायरे में और ज़्यादा फ़सलों को लाने, सरकार और निजी कंपनियों द्वारा इस मूल्य पर ख़रीद की गारंटी का संघर्ष कहीं ज़्यादा बड़ा है। जब तीनों क़ानून वापस हो जाएँगे, तो इस मुद्दे पर ज़ोर देने वाला आंदोलन शुरू होगा।

◆ इस लंबे आंदोलन का परिप्रेक्ष्य किसान नेताओं की बेहिचक भाषा में नवउदारतावादी भूमंडलीय निज़ाम द्वारा थोपी गई नीतियों का प्रतिकार करना है। अगर धरनास्थलों पर लगे पोस्टरों और होर्डिंगों को देखा जाए तो इसके प्रमाण साफ़ दिखते हैं। वहाँ पब्लिक सेक्टर की कंपनियों के निजी हाथों बेचे जाने का विरोध भी मिलेगा, और विश्व बैंक-मुद्रा कोष की नीतियों की आलोचना भी मिलेगी।

◆ जाट समाज की खाप संरचना ने इस आंदोलन के कारण एक नई करवट ली है। उसकी वैधता, राजनीतिक नियंत्रण की क्षमता और सामाजिक एकता के वाहक के तौर पर भूमिका में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ है। इससे पहले तीन कारणों से खापों का रुतबा कम हुआ था : 'ऑनर किलिंग' से जुड़े विवादों के कारण, हरियाणा में भाजपा द्वारा ग़ैर-जाटों की गोलबंदी के कारण, और विभिन्न प्रदेशों के जाटों के बीच के मतभेदों के कारण। इस आंदोलन में उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान और पंजाब के जाट एक साथ आ गए हैं। खापों के चौधरियों ने अपने समाज की स्त्रियों को बड़ी संख्या में आंदोलन में उतारा है। हर धरने में वे बसंती ओढ़नी के साथ आगे मौजूद रहती हैं। दलितों के साथ जाटों के टकराव को भी इन चौधरियों ने नरम किया है। दलित किसानों और खेत मज़दूरों को भी आंदोलन में भागीदारी के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है।[26]

◆ पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 2013 में हुए सांप्रदायिक दंगों के बाद जाटों और मुसलमानों की लंबे अरसे से चली आ रही एकता टूट गई थी। इसके फलस्वरूप 2014, 2017 और 2019 के चुनावों में जाटों ने बड़े पैमाने पर भाजपा को वोट दिया। 29 जनवरी को मुजफ़्फ़रनगर की जनसभा में भारतीय किसान यूनियन के नेता नरेश टिकैत के साथ ग़ुलाम मुहम्मद जौला भी मौजूद थे। दंगों के बाद ऐसा पहली बार हो रहा था। जौला ने दंगों के बाद यूनियन छोड़ दी थी, और अपना अलग संगठन बना लिया था। यह आंदोलन उस टूटी हुई एकता को फिर से स्थापित करने की तरफ़ जा रहा है।[27] अगले चुनाव में किसान 'हिंदू' की तरह नहीं, बल्कि 'किसान' की तरह वोट देने की इच्छा व्यक्त कर रहे हैं।[28]

---

[24] इस विषय में विस्तृत चर्चा के लिए देखें, अरुण कुमार (2020). 'https://thewire.in/agriculture/turning-the-fantasy-of-free-markets-and-choice-in-indian-agriculture-into-reality पर उपलब्ध.

[25] नमूने के तौर पर जोगिंदर सिंह उग्रहाँ का इंटरव्यू सुना जा सकता है, पूर्वोद्धृत.

[26] देखें, सिद्धार्थ तिवारी (2021).

[27] देखें, सतेंद्र कुमार (2021).

[28] सत्येंद्र बेरा (2021).

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 27

IV. निष्कर्ष

राजनीतिक सिद्धांतकार सुहास पलशीकर ने हिंदुत्ववादियों द्वारा लोकतंत्र के साथ निकट भविष्य में किए जा सकने वाले सुलूक के बारे में अंदाज़ा लगाते हुए लिखा है, 'एक समय आएगा जब लोकतंत्र को पश्चिमी विचार बताने की दलील दे कर कहा जाएगा कि यह सच्चे और आध्यात्मिक मोक्ष के लिए अनावश्यक है। यह दावा किया जाएगा कि लोकतंत्र का एक देशज तात्पर्य भी है। उदारतावाद और व्यक्तिगत अधिकार तो पश्चिमी फ़ैशन हैं, संस्थाओं की स्वायत्तता का विचार जड़-पूजा (फ़ेटिश) के अलावा कुछ नहीं है, और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक बेकार की विलासिता है ...। दीनदयाल उपाध्याय के विचारों पर ज़ोर और एम.एस. गोलवलकर के विचारों की फिर से बेहिचक दावेदारी उस पहले क़दम का लक्षण है जिसके तहत लोकतंत्र के भारतीय-हिंदू संस्करण होने की दलील दी जाने वाली है। संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत के हाल के भाषणों का सावधानीपूर्वक अर्थग्रहण करने से इसका प्रमाण मिल जाएगा। यह दावा सीधा-सरल है कि पश्चिमी बौद्धिक परंपरा से स्वतंत्र और उससे बहुत पहले हिंदू परंपरा और शास्त्रों में लोकतंत्र का आविष्कार, अभ्यास और सिद्धांतीकरण किया जा चुका था। यह कहते हुए उन दो केंद्रीय स्रोतों को नकार दिया जाता है जिन पर भारत की लोकतांत्रिक राजनीति आधारित है। ये हैं राष्ट्रीय आंदोलन और संविधान।'[29]

सुहास पलशीकर ने बहुसंख्यकवादी राजनीति के उभार के कई ओझल पक्षों को पहले भी हमारे सामने रखा है। इस इस क्षेत्र में उनका योगदान श्लाघनीय है। लेकिन, उनका यह अवलोकन दो समस्याओं का शिकार है। पहला, उनके लहज़े से यह प्रतीत होता है कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य के ऊपर पश्चिम का कॉपीराइट है, और उस मॉडल से किसी तरह का विचलन स्वाभाविक रूप से शक के दायरे में समझा जाना चाहिए। किसी भी अकादमीशियन का यह रवैया अठारहवीं सदी में पश्चिम के उदय से पहले दुनिया में राज्य-व्यवस्थाओं के विभिन्न प्रचलित रूपों की आज के ज़माने के लिए उपयोगिता की किसी भी संभावना को नकार देता है। हालाँकि पलशीकर का यह कथन हिंदुत्ववादियों द्वारा लोकतंत्र को विकृत कर डालने के डर की उपज भी हो सकता है, लेकिन इसमें भारतीय समाज-विज्ञान में घर कर चुकी युरोकेंद्रीयता भी देखी जा सकती है। दूसरा, यह कथन हिंदुत्वादियों द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन और संविधान का अपने विचारधारात्मक प्रोजेक्ट में विनियोग करने की उस प्रक्रिया को नज़रअंदाज़ करता है जो बालासाहब देवरस के ज़माने से ही सतत जारी है। देवरस ने 1974 में पूना में दिए गए अपने एक भाषण में इसका सिद्धांतीकरण किया था, और अब ग़लतियाँ करने और सुधारने की धीरे चलने वाली लेकिन लंबी प्रक्रिया के ज़रिए संघ और भाजपा ने इसे व्यवहार में उतार दिया है। आज़ादी के पहले और बाद से चल रही विभिन्न बहुसंख्यकवादों की प्रतियोगिता में कई अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठा कर और बिना थके प्रयास करते रहने के कारण हिंदू बहुसंख्यकवाद अन्य बहुसंख्यकवादों (सिख, मुसलमान, ईसाई और जातियों के बहुसंख्यकवाद) से बहुत आगे निकल गया है।[30]

जितना हम लोग सोच सकते हैं, संघ उससे कहीं ज़्यादा लचीला और परिवर्तनशील है। अपनी विचारधारा के मर्म पर क़ायम रहने के अलावा किसी पहले कही गई बात (चाहे वह

[29] देखें, सुहास पलशीकर (2021), पूर्वोद्धृत.

[30] संघ परिवार में चली इस प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या और बहुसंख्यकवादों की प्रतियोगिता के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2020).

गोलवलकर की हो या उपाध्याय की) को दुहराते रहने में उसकी दिलचस्पी नहीं है (यह अलग बात है कि यह 'मर्म' संघ के आलोचकों को बहुत धीरे-धीरे और टुकड़ों में ही समझ में आ रहा है, क्योंकि उनका ज़्यादातर समय अल्पसंख्यक विरोध और स्मृतियों का समर्थन करने वाली चमकदार क़िस्म की बातों को संघ का मर्म समझने में ही ख़र्च हो जाता है)। मोहन भागवत ने इस बारे में संघ के मौजूदा नेतृत्व का रवैया स्पष्ट किया है। वे लोग पहले कही गई बातों को दो भागों में बाँट कर देखते हैं। एक भाग में वे बातें रखी जाती हैं जो किसी ख़ास 'प्रसंग-विशेष' के कारण कही गई होंगी, और दूसरे भाग में वे जिनका महत्त्व 'सदा काल' के लिए है।[31] इस युक्ति के कारण संघ को सुविधा विभिन्न विमर्शों को अपनाने और छोड़ने की सुविधा मिल जाती है। संघ इस युक्ति को अपने विमर्श के दायरे से बाहर के विचारों के लिए इस्तेमाल करता है। इस मामले में देवरस का उक्त व्याख्यान भी याद करना चाहिए जिसमें उन्होंने हिंदू समाज की कड़ी आलोचना करने वाले समाज सुधारकों की बातें भुला कर उन्हें 'हिंदू चिंतक' के रूप में प्रात:स्मरणीय हस्तियों की तरह स्वीकार करने का कार्यक्रम पेश किया था।[32]

समझने की बात यह है कि अब संघ परिवार अपने प्रोजेक्ट के दूसरे चरण में है। पहला चरण चुनावी प्रभुत्व स्थापित करने और सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक विमर्श को इस क़दर हिंदू-उन्मुख बनाने का था कि अगर कभी चुनावी प्रभुत्व गड़बड़ा जाए तो भी सत्ता में आने वाली ताक़तें भाजपा की कार्बन-कॉपी ही लगें। दूसरा चरण आज्ञापालक समाज बनाने का है। वर्ग-संघर्ष, जाति-संघर्ष, समाज सुधारों के लिए संघर्ष, ब्राह्मणवाद-विरोध, सामाजिक न्याय के नाम पर अस्मिताओं का टकराव और इसे आरक्षण की माँग में घटा देना, अल्पसंख्यक अधिकारों की लड़ाई, नाना प्रकार के अन्य अधिकारों की दावेदारी, जेंडर डेमॉक्रैसी के लिए संघर्ष, हर तरह के नए घटनाक्रम को क्रांति की संज्ञा देने का रवैया — यह पूरी भाषा उदारतावादी लोकतंत्र के दायरे में टकरावमूलक राजनीति की है जिसके हम सब अभ्यस्त हो चुके हैं। संघ भी ज़रूरत पड़ने पर टकरावमूलक राजनीति और गोलबंदी करता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण रामजन्मभूमि आंदोलन है। पर यह उसकी कार्यनीति होती है, दीर्घकालीन रणनीति और विचारधारा नहीं। दरअसल, संघ परिवार इस टकरावमूलक भाषा को मिल चुकी विमर्शी और व्यावहारिक वैधता को ख़त्म करना चाहता है। इसके लिए वह परंपरा का आह्वान कर रहा है, और भारतीय परंपरा इतनी विविध है कि उसमें से इस विचार के पक्ष में दृष्टांत खोज लेना आसान है। वैसे, यह उसका कोई नया विचार नहीं है। संघ के दस्तावेज़ों में उसके सिद्धांतवेत्ताओं द्वारा संघर्षविहीन सुधार, सामंजस्य और समरसता के पहलुओं को रेखांकित करने के विचारधारात्मक आग्रह स्पष्ट रूप से मौजूद हैं।

अगर पश्चिमी लोकतंत्रों में समाज-मनोविज्ञान के प्रायोगिक अध्ययनों पर ग़ौर करें तो संघ के इस प्रोजेक्ट की मंशा से निकलने वाले आज्ञापालन के मॉडल की शिनाख़्त की जा सकती है। इन प्रयोगों का विश्लेषण करके निकाले गए नतीजों में से दो इसमें हमारी मदद कर सकते हैं। एक नतीजे के अनुसार, 'हमारे निष्कर्षों के मुताबिक़ ज़रूरी नहीं है कि हानिकारक आज्ञापालन करवाने के लिए ज़ोर-ज़बरदस्ती वाले आदेश ही दिए जाएँ। .... मिलग्राम के प्रयोगों के अध्ययन से पता लगता है कि हानिकारक आदेश देने वाले की वैधता और पालन करने वाले के साथ

[31] मोहन भागवत का व्याख्यान (2018), पूर्वोद्धृत : 90.

[32] इस व्याख्यान पर विस्तार से चर्चा के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2020), पूर्वोद्धृत (पहला अध्याय).

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 29

उसकी निकटता जितनी अधिक होगी उतने ही आक्रामक ढंग से उसके आदेश का पालन होने की संभावना होगी।'[33] एक अन्य विद्वान ने निष्कर्ष निकाला है कि आज्ञापालन केवल आदेशों की अनुक्रिया में ही घटित नहीं होता। अगर किसी भी क़िस्म के आदेश न दिए जाएँ, तो भी किसी व्यवस्था-विशेष के दायरे में उससे सहमत लोग उसके मक़सदों को पूरा करने के लिए स्वत:प्रेरित शैली में आज्ञापालन करते हुए नज़र आ सकते हैं।[34]

आज्ञापालक समाज बनाने के प्रोजेक्ट को समझने के संबंध में यह अवलोकन निश्चित रूप से उपयोगी है। लेकिन, पहली नज़र में देखने पर यहाँ एक दुहैरी प्रक्रिया भी चलती हुई दिख सकती है। एक तरफ़ व्यवस्था और राजनीतिक विचारधारा के प्रभुत्व के तले देशभक्ति, राष्ट्रवाद और संविधानपरस्ती के दबाव में बिना आदेश के सामाजिक स्तर पर आज्ञापालन करवाने लायक परिस्थितियाँ बनाई जा रही हैं। दूसरी तरफ़ प्रधानमंत्री मोदी की शख़्सियत को बाध्यकारी आदेश दे सकने के शक्तिशाली प्राधिकार से संपन्न हस्ती के तौर पर विकसित करने की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया जा रहा है। उनकी लंबी, सफ़ेद और भव्य दाढ़ी से निकलने वाली पितृतुल्य छवि, हर उम्र के नागरिकों को लगातार नसीहत देते रहने, 'घुस कर मारा' की तर्ज़ पर नागरिक नेतृत्व में फ़ौजी नेतृत्व का तड़का लगाने, अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के प्रति शंकित तबक़ों की माँगें पूरी करने के बजाय प्रधानमंत्री के ऊपर 'भरोसा' करने का आग्रह करने वाले वक्तव्य इस राजनीतिक-सामाजिक इंजीनियरिंग के विभिन्न आयामों की तरह देखे जा सकते हैं। हाल ही में अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र ने हान्ना आरेंट के विमर्श पर एकाग्र अपनी रचना हिंसा का उत्खनन में कई मानीख़ेज़ इशारे किए हैं जो लोकतांत्रिक राज्य के दायरे में पनपने वाली सर्वाधिकारवादी प्रवृत्तियों के भारतीय प्रकरण पर उँगली रखती हैं।[35]

जहाँ तक किसान आंदोलन का ताल्लुक़ है, उसकी निरंतरता इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसने इस वैचारिक प्रोजेक्ट की बेरोकटोक यात्रा को एकबारगी रोक दिया है। प्रतिरोध का यह व्याकरण अभी पूरी तरह से बना नहीं है, लेकिन इसके कारण नए विमर्शों की गुंजाइश खुली है। नई सामाजिक-राजनीतिक एकताएँ उभरी हैं। सांप्रदायिकता के दबाव में टूट चुकी पुरानी एकताओं की वापसी, और नई बहसों की शुरुआत हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो यह किसान आंदोलन व्यवस्था और उसकी संचालक सरकार द्वारा दी गई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आज्ञाओं को तिरस्कार के साथ देखते हुए अवज्ञा की उस संस्कृति को पुनर्जीवित कर रहा है जिसकी रचना गांधी के नेतृत्व में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में हुई थी। वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति के इन आयामों ने मिल कर एक आज्ञा बनाम अवज्ञा के अंतर्विरोध को जन्म दे दिया है। व्यवस्था पर क़ाबिज़ ताक़तों (नया सत्ता-समीकरण) ने अगर विभिन्न सामाजिक शक्तियों की सहमति प्राप्त करके इसे जल्दी ही हल नहीं किया, तो लोकतांत्रिक प्रणाली तक़रीबन वैसे ही संकट में फँस सकती है जैसा सत्तर के दशक के पूर्वार्ध और मध्य (संपूर्ण क्रांति आंदोलन से ले कर आपातकाल तक) में पैदा हुआ था।

[33] देखें, मार्शल मर्मिलॉड वग़ैरह (2015) : 345-351.

[34] देखें, स्टीफ़न गिब्सन (2018). विली ऑनलाइन लाइब्रेरी पर उपलब्ध.

[35] देखें, अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र (2020).

01abhay_dubey_Layout 1 9/15/2021 2:54 PM Page 30

संदर्भ

अनीशा दत्त (2021), 'इंडिया मल्स न्यू डेमॉक्रैसी रिपोर्ट : फ़्रीडम इंडेक्स बाइ लोकल थिंक टैंक'. *हिंदुस्तान टाइम्स,* 17 मार्च.

अभय कुमार दुबे (सं.)(2003), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नई दिल्ली.

अभय कुमार दुबे (2020), *हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति*, सीएसडीएस-वाणी, नई दिल्ली.

अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र (2020), *हान्ना आरेंट : हिंसा का उत्खनन*, प्राकृत भारत अकादमी, जयपुर.

अरुण कुमार (2020), 'टर्निंग द फ़ैंटेसी ऑफ़ 'फ़्री मार्केट्स' ऐंड 'चॉयस' इन इंडियन एग्रीकल्चर इनटू रियलिटी', द *वायर*, 19 अक्टूबर. https://thewire.in/agriculture/turning-the-fantasy-of-free-markets-and-choice-in-indian-agriculture-into-reality पर उपलब्ध.

आशिस नंदी (2002), 'नई राजनीतिक संस्कृति : समाज और लोकतंत्र', अभय कुमार दुबे (सं.), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, सीएसडीएस-वाणी, नई दिल्ली.

कृष्ण कौशिक (2021), 'जीओएम्ज़ गुड न्यूज़ प्लान : कलर-कोड जर्नलिस्ट्स', 'न्यूट्रलाइज़ द निगेटिव', द *इंडियन एक्सप्रेस*, 6 मार्च.

दीपेश चक्रवर्ती (2007), 'इन द नेम ऑफ़ पॉलिटिक्स : डेमॉक्रैसी ऐंड द पॉवर ऑफ़ द मल्टीट्यूड इन इंडिया', *पब्लिक कल्चर*, खंड 19, अंक 1.

देविंदर शर्मा (2019), 'आर्थिक सुस्ती या पस्ती?', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति*, वर्ष 7, अंक 2.

बेहरंस और लियोनार्ड जे. रोज़ेन (सं.) (2008), *राइटिंग ऐंड रीडिंग एक्रॉस द करिकुलम*, पियरसन लोंगमेन, बोस्टन.

डॉ. कृष्ण गोपाल (2017), भारतीय परंपरा में संघर्ष विहीन सुधार, व्याख्यान शृंखला, गोविंद वल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद.

दत्तोपंत ठेंगड़ी (2015), 'सामाजिक समरसता : समता की पूर्वपीठिका', राकेश सिन्हा (सं.), *सामाजिक क्रांति का दर्शन*, भारत नीति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली.

बलबीर सिंह राजेवाल के इस भाषण के लिए देखें, https://youtu.be/Z03TNQsBeiA

मार्शल मर्मिलॉड वग़ैरह (2015), 'डिस्ट्रक्टिव ओबीडिएंस विदाउट प्रेशर', *सोशल साइकोलॉजी*, खंड 46, अंक 6.

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण (2018), *भविष्य का भारत*, विज्ञान भवन, दिल्ली में सरसंघचालक मोहन भागवत द्वारा दिए गए तीन व्याख्यानों का संकलन, विमर्श प्रकाशन, नई दिल्ली.

शालिनी शर्मा (2013), 'ये आज़ादी झूठी है! : शेपिंग ऑफ़ द अपोज़ीशन इन द फ़र्स्ट ईयर ऑफ़ द कॉन्ग्रेस राज', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खंड 48, अंक 5.

सतेंद्र कुमार (2021), 'एमिड फ़ॉल्ट लाइंस, अ रिवाइवल ऑफ़ फ़ार्मर्स आइडेंटिटी', द *हिंदू*, 13 फ़रवरी.

सत्येंद्र बेरा (2021), 'इनसाइड द थर्ड फ्रंट ऑफ़ द फ़ार्म एजिटेशन', *मिंट*, 10 फ़रवरी.

सर्वेक्षण के इन आँकड़ों के लिए देखें, https://www.abplive.com/news/india/desh-ka-mood-abp-news-abp-news-survey-farmer-protest-coronavirus-vaccine-1725712

सिद्धार्थ तिवारी (2021), 'खाप्स, फ़ॉर्म स्टर गेनिंग फ्रॉम ईच अदर', *टाइम्स ऑफ़ इंडिया*, 14 मार्च.

सुहास पलशीकर (2021), 'डेमॉक्रैसी, देयर्स ऐंड अवर्स : अ होमग्रोन क्वेश्चन, हाउ डू वी अंडरस्टैन्ड डेमॉक्रैसी?', *द इंडियन एक्सप्रेस*, 17 मार्च.

स्टीफ़न गिब्सन (2018), 'ओबीडिएंस विदाउट ऑर्डर्स : एक्सपेंडिंग सोशल साइकोलॉजीज़ कंसेप्शन ऑफ़ ओबीडिएंस', *ब्रिटिश जरनल ऑफ़ सोशल साइकोलॉजी*, विली ऑनलाइन लाइब्रेरी पर उपलब्ध.

स्टेनली मिलग्राम (1974), *ओबीडिएंस टू अथॉरिटी* का एक संक्षेपित अंश 'द पेरिल्स ऑफ़ ओबीडिएंस', https://harpers.org/ archive/1973/12/the-perils-of-obedience/ पर उपलब्ध.